60/3

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अक मे-

कहाँ/क्या?

1	अध्यात्मपद	- पण्डितप्रवर दौलतराम जी	1
2	सम्पादकीय		2
3	आदिपुराण मे वर्णित आजीविका के साधन एव आर्थिक विचार	डॉ सुपार्श्व कुमार जन	7
4	सागार धर्मामृत म सल्लेखना	श्री आनन्द कुमार जन	19
5	सागार धर्मामृत म ग्यारह प्रतिमाओ का विवचन	प पुलक गोयल	33
6	भगवान महावीर का दशना स्थल एव गणधर	- प सनतकुमार विनादकुमार जन	49
7	जलाभिषक बनाम पचामृत अभिषेक	डॉ राजेन्द्र कुमार बसल	55

वर्ष 60 किरण 3
जुलाई सितम्बर 2007

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र)
फोन· (0131) 2603730

सस्था की
सरक्षक सदस्यता
51,000 -
आजीवन सदस्यता
11,000 -
वार्षिक सदस्यता
1,000 -
इस अक का मूल्य
10/-
सदस्यो व मदिरो क
लिए नि शुल्क
प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट
मुद्रक ·
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर
(जैन दर्शन शोध संस्थान)
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591-62)

अध्यात्म-पद

7082

"हम तो कबहुँ न निजगुन भाये"

हम तो कबहुँ न निजगुन भाये।
तन निज मान जान तन सुख-दुख में विलखे हरषाये।।

तन को गरन मरन लखि, तन को, धरन मान हम जाये।
या भ्रमभौंर परे भवजल चिर, चहुँगति विपति लहाये।।
हम तो कबहुँ.................. ।।1।।

दरश-बोध-व्रत-सुधा न चाख्यो, विविध विषय-विष खाये।
सुगुरु दयाल सीख दई पुनि-पुनि, सुनि-सुनि उर नहिं लाये।।
हम तो कबहूँ.................. ।।2।।

बहिरातमता तजी न अन्तर दृष्टि न ह्वै जिन ध्याये ।
धाम काम धन रामा की नित, आस-हुतास जलाये ।।
हम तो कबहूँ.................. ।।3।।

अचल अरूप शुद्ध चिद्रूपी, सब सुखमय मुनि गाये ।
"दौल" चिदानन्द स्वगुण-मगन जे, ते जिय सुखिया थाये ।।
हम तो कबहूँ.................. ।।4।।

– कविवर दौलतराम जी

सम्पादकीय–

चैतन्यचन्द्रोदय परीष्टि

अनादि काल से इस जगत् में दो विचारधारायें सतत प्रवाहमान हैं– श्रेय और प्रेय। कठोपनिषद् में कहा गया है–

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।"

विवेकी व्यक्ति प्रेय की अपेक्षा श्रेय को वरेण्य मानता है, जबकि मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति योगक्षेम के कारण प्रेय का वरण करता है।

परमपूज्य सन्तशिरोमणि दिगम्बराचार्य विद्यासागर जी महाराज द्वारा प्रणीत चैतन्यचन्द्रोदय एक ऐसा श्रेयोमार्गी 114 वृत्तात्मक लघुकाय ग्रन्थ है, जिसमें जैन सिद्धान्त का सार लबालब भरा है। इसके पठन, अध्ययन एवं अनुशीलन से अध्येता एकत्र ही समन्तभद्र की भद्रता और कुन्दकुन्द के कुन्दन को प्राप्त कर सकते हैं।

चैतन्यचन्द्रोदय के लेखन का प्रयोजन आचार्यश्री ने स्वयं 'स्वरूपलाभाय विरूपहान्यै' (पद्य 2) कहकर स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थ में चेतनविषयक चर्चा का उद्देश्य स्व स्वरूपता को प्राप्त करना तथा विरूपता का निवारण करना है। यह प्रयोजन प्रणेतृनिष्ठ तो है ही, पाठकनिष्ठ भी है। आगम में चैतन्य या चेतना को आत्मा का लक्षण माना गया है, जिसका संवेदन यह जीव सतत करता रहता है। जीव के स्वभावरूप उस चेतना के दो भेद हैं- ज्ञान और दर्शन। चेतना की परिणति विशेष होने से इन्हें उपयोग भी कहा जाता है। साकार और अनाकार के भेद से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में भिन्नता है। ज्ञान का विषय विशेष होता है तथा दर्शन का सामान्य। ये उपयोग संसारी अवस्था में अशुद्ध तथा मुक्त अवस्था में शुद्ध होते हैं। अशुद्धोपयोग अशुभ एवं शुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। आचार्यश्री ने उन तथाकथित तत्त्वज्ञानियों को नयपद्धति से दूर कहा है जो ऐसा मानते हैं कि द्रव्य एवं उनके गुण त्रैकालिक शुद्ध हैं तथा केवल पर्यायें ही अशुद्धता को प्राप्त होती हैं। वे लिखते हैं-

"त्रैकालिका द्रव्यगुणा विशुद्धाः,
पर्याय एवाशुचितागतस्तु।
यद्दर्शनज्ञानगुणौ विशुद्धा-
वित्थं वदन्तो नयमार्गदूराः।। 5।।"

कुछ दार्शनिकों की यह अवधारणा है कि एक ईश्वर जगत् का कर्ता, पालनकर्ता एवं हर्ता है। जैन दर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता है। उसकी तो मान्यता है कि अनादि काल से बीज-वृक्ष की तरह योग एवं मोह के वशीभूत हो कर्मोदय से भाव और भाव से कर्मबन्ध के रूप में सृष्टि परम्परा चलती रहती है। जब मोह का अभाव हो जाता है, तब दग्ध बीज के समान उस जीव का कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है, तथा वह जीव पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। चैतन्यचन्द्रोदय में इस तथ्य का अतीव शोभन विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में ईश्वर कर्तव्य की अवधारणा के निरसन में आचार्यश्री का कथन द्रष्टव्य हैः-

" चराचराणां जगतोऽपि कर्ता,
हर्त्तापि काले प्रतिपालकोऽपि ।
स ईश्वरोऽस्तीति वयं तदंशाः
मतिं दधद्दुःखि जगत्सदेदम् ।।22।।"

आगम में कार्य के प्रति नियामक हेतु को कारण कहा जाता है। कारण दो प्रकार का होता है- उपादान और निमित्त। कुछ तथाकथित नव्य अध्यात्मवादी निमित्त कारण के प्रभाव को ठीक प्रकार से स्वीकार करने में हिचकते हैं। चैतन्यचन्द्रोदय में कहा गया है-

" निमित्तरूपेण परप्रभावः,
स्वतोऽन्यथात्वं भवनं विभावः।
मणेः स्वभावो धवलोऽपि रक्तो,
रक्तं च पुष्पं पुरतो यदा स्यात्।।24।।"

अर्थात् निमित्त कारण का भी अत्यन्त प्रभाव है, तभी तो वस्तु में अन्यथारूप विभाव देखा जाता है। स्फटिक मणि का धवल स्वभाव भी

तब लाल हो जाता है, जब उसके समक्ष लाल पुष्प रखा होता है। अन्यत्र भी उन्होंने निमित्त कारण के प्रभाव का कथन करते हुए लिखा है कि मुक्तात्मा में ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रकट हो जाने पर भी वह लोकाग्र के आगे गमन नहीं कर पाता है। क्योंकि लोकाग्र के आगे गति में निमित्त कारण रूप धर्मद्रव्य का सद्भाव नहीं पाया जाता है-

"मुक्तो भवँस्तत्क्षण ऊर्ध्वमात्मा,
लोकाग्रमेति प्रकटात्स्वभावात्।
धर्मास्तिकायस्य परं त्वभावात्,
परं न तस्यास्ति गतिर्जिनोक्तिः।। 104 ।।"

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्राथमिकी भूमिका है। चैतन्यचन्द्रोदय में आगमसरणि का ही अवलम्बन लेकर कहा गया है कि निःसंग साधुओं की संगति, जिनवाणी का यथारीति श्रवण तथा जिनबिम्बों के दर्शन से मिथ्यात्व की हानि एवं सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। अठारह दोषों से रहित जिनेन्द्र देव, दयायुक्त धर्म और दिगम्बर मुनि के प्रति श्रद्धा को आगम में सम्यग्दर्शन कहा है। आचार्यश्री लिखते हैं-

"जिनेषु येऽष्टादशदोषमुक्ता,
धर्मे तथास्मिन् दययांचिते या।
श्रद्धा मुनौ स्याच्च दिगम्बरेऽपि,
सम्यक्त्वमेतत् समये समुक्तम्।।3।।"

चैतन्यचन्द्रोदय में जीव के अन्तरंग परिणामों में होने वाले उतार चढ़ाव रूप गुणस्थानों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन आगमिक गुणस्थान व्यवस्था को स्पष्ट करने में समर्थ है। कुछ विद्वान् आगम के किसी सापेक्ष कथन को आधार बनाकर सम्यक्त्व की उपलब्धि होते ही चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग स्वीकार करने लगते हैं। आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग का सूत्रपात उपचारमात्र है। वे लिखते हैं-

"आद्यश्च मोहः शिवमार्गशत्रुः,
शेषक्षतेस्तु क्रमतो विकासः।
तस्येति केचिच्च विचारवन्तो,
गुणे चतुर्थे किल सूत्रपातः।।36।।"

महाग्रन्थ धवल में 'सिद्धा ण जीव' कहकर सिद्धों को जीव नहीं कहा गया है। इस कथन से भ्रान्ति की संभावना है। अतः आचार्यश्री ने स्पष्ट किया है कि यह कथन सर्वथा नहीं है, अपितु प्राणों कि अपेक्षा है। सिद्धों में प्राणराहित्य होने से ऐसा कहा गया है। वे प्राणों से रहित तो हो गये हैं, किन्तु जीवन से नहीं। उनका तर्क है कि मोक्ष में जब सुख है, तो उसका भोक्ता जीव भी मानना ही होगा। भोग्य वस्तु का क्या प्रयोजन है? उन्होंने कहा है-

"सिद्धा न जीव इति सर्वथा न,
प्राणैर्विमुक्ता न तु जीवनेन।
मोक्षे सुखं चेत् खलु तस्य भोक्ता,
भोक्त्रा विना तत्किमु भोग्यवस्तु।।105।।"

अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का चैतन्यचन्द्रोदय मे किया गया वर्णन शास्त्रानुकूल तो है ही, साथ ही इस वर्णन में आचार्यश्री की युगचेतना का भी प्रतिबिम्ब हुआ है। इस प्रसंग में अशुभोपयोग की प्रवृत्तियो का वर्णन करते हुए अन्य अशुभ प्रवृत्तियों के साथ 'राष्ट्रीयतायाः प्रतिलोमिताऽपि' (पद्य 41) कहकर आचार्यश्री राष्ट्रविरोधी गतिविधियों को अशुभोपयोग मे समाविष्ट कर ऐसे कार्यों में संलग्न धर्मध्वज गृहस्थों से कुछ कहते हुए प्रतीत होते हैं। प्रसंगतः विद्वद्वर्ग को भी उन्होंने चारित्र धारण करने की प्रेरणा देते हुए लिखा है-

"सुखस्य मूल्यं खलु चेतनैव,
सज्ज्ञानहीना किमु सास्तु मुक्तिः।
मुक्तेः सुखायाध्रियते चरित्रं,
विमुक्तपापैश्च विदांवरैस्तैः।।18।।"

चैतन्यचन्द्रोदय के अन्त में 8 पद्यों में 'सिद्धान्मुदेऽहं मनसा नमामि' कहकर आचार्यश्री ने गुणस्मरणपूर्वक जो सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति की है, वह अनुपम एवं अद्वितीय है तथा सभी श्रमणों एवं श्रावकों द्वारा सतत मननीय है।

वास्तव में एक शतक में लिखित संस्कृत वाड्मय के विशाल सम्मर्द में आचार्य विद्यासागर जी महाराज का अवदान उल्लेखनीय है। भाषा में उनकी अनुपम पकड़ है। 'चैतन्यचन्द्रोदयचन्द्रिकायै', 'यद्वस्तुतो वस्तु समस्तमस्तु', 'निःसंगसंगाच्च गुरूपदेशात्', 'एकोऽपि कोऽपीति समं समस्तु, 'अनङ्गमङ्गं बहिरन्तरङ्गं' आदि स्थलों पर शब्द नाचते हुए से प्रतीत होते हैं। मुझे विश्वास है कि चैतन्यचन्द्रोदय जैसे सैद्धान्तिक कृति को पाकर संस्कृत समाज प्रमुदित होगा तथा भव्यों की मोक्षमार्ग में प्रवृति होगी।

आचार्यश्री के चरणों में विनम्रतापूर्वक नमोऽस्तु के साथ-

डॉ. जयकुमार जैन
उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)- 251001

"आदिपुराण में वर्णित आजीविका के साधन एवं आर्थिक विचार"

– डॉ. सुपार्श्व कुमार जैन

जैनाचार्यों ने मनुष्यों के दो भेद किए हैं- अकर्मभूमिज एवं कर्मभूमिज। अकर्मभूमि भोगभूमि का अपर नाम है। चौदहवें कुलकर श्री नाभिराय के समय में ही भोगभूमि की समाप्ति एवं कर्मभूमि का प्रवेश हो चुका था। साथ ही मानव श्रम व पुरुषार्थ के धरातल पर आ खड़ा हुआ।

कर्मभूमि :-

जो अच्छे और बुरे कार्यों का आश्रय हो, उसे कर्मभूमि कहते हैं[1]। अर्थात् स्वर्गादिक विशेष स्थानों को प्राप्त कराने वाले शुभ कार्यों व अन्तिम सातवें नरक तक पहुंचाने वाले अशुभ कार्यों का उपार्जन तथा कृषि आदि षट्कर्मों का आरम्भ इसी भूमि पर आरम्भ होने के कारण इसे कर्मभूमि कहा जाता है। देवकुरू और उत्तरकुरू को छोड़कर भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियां हैं। प्रत्येक के पॉच-पॉच भेद होने से कुल पन्द्रह कर्मभूमियॉ हैं।

कर्मभूमि का वास्तविक प्रारम्भ नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव के समय से होता है। कर्मभूमि के आगमन पर कालवश कल्पवृक्ष निःशेष हो गये, औषधियों के शक्तिहीन हो जाने पर प्रजा में रोग, व्याधि तथा अन्य अनेक बाधाओं से व्याकुलता बढ़ने लगी थी। शीत, आतप, महावायु और वर्षा का प्रकोप अति उग्र होने लगा था, भूख, प्यास आदि की बाधायें तीव्र हो गई थीं, शिक्षा व दीक्षा की समस्याएं बढ़ गयीं, प्रजा धन कमाने की आर्थिक क्रियाओं से अपरिचित थी, वाणिज्य व्यवहार और शिल्प से रहित थी.... आदि अनेक समस्याओं का न केवल जन्म हो चुका था, अपितु इनकी भयंकरता भी बढ़ने लगी थी। भयग्रस्त प्रजा त्राहि-त्राहि करती हुई जब नाभिराय की शरण में पहुंची तो उन्होंने उस प्रजा को अपने विशिष्ट ज्ञानी पुत्र ऋषभदेव के पास भेज दिया।

आजीविका के साधन :-

भयग्रस्त और त्राहि-त्राहि करती हुई प्रजा को देखकर दयार्द्रचित्त ऋषभदेव ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जाना कि कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर यह कर्मभूमि प्रकट हुई, अतः प्रजा को षट्कर्मों द्वारा आजीविका करना उचित होगा - ऐसा विचार कर उन्होंने प्रजा के हितकारक आजीविका के निम्न साधनों का प्रतिपादन किया:-

1. असिकर्म अर्थात् सैनिक और आरक्षी कार्य से जीविका कमाना,
2. मषिकर्म अर्थात् लिपिक वृत्ति,
3. कृषिकर्म अर्थात् खेती का कार्य करना,
4. विद्याकर्म अर्थात् अध्यापन व शास्त्रोपदेश द्वारा आजीविका कमाना,
5. वाणिज्यकर्म अर्थात् व्यापार करना, तथा
6. शिल्पकर्म अर्थात् वस्तुओं का उत्पादन, निर्माण आदि कार्य करना[2]।

उपर्युक्त षट्कर्मों से आजीविका कमाने वाले गृहस्थों को आदिपुराण में "षट्कर्मजीविनाम्" कहा जाता है[3]। ऋषभदेव ने असि, मषि आदि षट्कर्मों की न केवल सैद्धान्तिक अपितु इसकी व्यवहारिक शिक्षा भी प्रदान की।

1. असिकर्म

शस्त्र धारण कर सेवा या आजीविका करना असिकर्म कहलाता है[4]। असि शब्द सांकेतिक है, जिसमें तलवार, धनुषबाण, बरछी, भाला, बन्दूकें, रिवाल्वर, मशीनगन, बम-फाईटर्स तथा राकेट आदि भी सन्निहित होते हैं। वास्तव में यह सैनिकों एवं पुलिस वालों के लिए आजीविका का साधन है । ऐसे व्यक्ति साहसी और वीर होना चाहिए। "क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वम्[5]" आदिपुराण के इस कथन से भी यह स्पष्ट होता है, क्षत्रिय जाति के व्यक्ति ही शस्त्र धारण द्वारा आजीविका करते थे, अथवा जो साहसी और वीर व्यक्ति देश की आन्तरिक व बाह्य

सीमाओं की रक्षा करने में तत्पर थे। उन शस्त्रधारियों को ऋषभदेव ने क्षत्रिय-वर्ण की संज्ञा प्रदान की थी। प्रत्येक देश में अपनी तथा दूसरों की रक्षा के लिए ऐसे सैनिकों व पुलिस की आवश्यकता पड़ती ही है, जो समय-समय पर उनकी रक्षा कर सकें। अतः जिन्हें अस्त्रशस्त्रों के चलाने में कुशलता प्राप्त थी, उन्होंने इस असिकर्म अर्थात् सैनिकवृत्ति को स्वीकार कर लिया था। जब देश में आन्तरिक क्रान्ति या गृहयुद्ध हो, साम्प्रदायिक द्वेषभाव से अराजकता फैल रही हो, धर्मविग्रह पैदा हो गया हो या कोई अन्य देश सीमा का अतिक्रमण करने हेतु अस्त्रशस्त्र सहित फौज लिए खड़ा हो, तब इन सैनिकों/पुलिसकर्मियों का उपयोग किया जाता रहा है और आज भी किया जाता है। अतः असिकर्म समाज, धर्म और राष्ट्र की रक्षा के महत्वपूर्ण प्रश्न की सीमा तक विस्तृत है। निष्कर्ष यह है कि अस्त्र-शस्त्र के व्यवहार द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारिवारिक भरण-पोषण करना असिकर्म कहलाता है।

2. मषिकर्म

लेखन के द्वारा आजीविका अर्जन करना मषिकर्म कहलाता है[6]। इसका विशेष सम्बन्ध लिपिक के कार्यों से है जो राज्यीय व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न कार्यालयों का सचालन करता था तथा प्रशासनिक कार्यों में महत्वपूर्ण सहयोग देता था। यह भी एक लाक्षणिक शब्द है और इसमें लेखक, लिपिक, गणक आदि सभी शामिल हैं। लेखपत्र प्रस्तुत करना, प्रज्ञापन लिखना, आज्ञा लिखना आदि कार्य लेखन के माने जाते थे। इस लेखक के ऊपर एक अधिकारी भी होता था, जिसके निर्देशन में उसे लेखकार्य प्रस्तुत करना होता था। 72 कलाओं में "लेख" भी एक कला है, जिसे पूर्व में मषिकर्म कहा जाता था। ऋषभदेव द्वारा लिपि व संख्या का अविष्कार किया जा चुका था। भले ही उस समय शिक्षा पद्धति मौखिक रही हो और लिखित ग्रन्थों का अधिक चलन न रहा हो, फिर भी यह स्पष्ट होता है कि आदिकाल मे लेखन कार्य होता था। इस मषिजीवी वर्ग को भी क्षत्रियवर्ग के समान महत्व दिया जाता था।

3. कृषिकर्म

"कृषिर्भूकर्षणं प्रोक्ताः[7] "अर्थात् खेतों को जोतकर व बोकर आजीविका पैदा करना कृषिकर्म कहलाता है। ऋषभदेव के उपदेश से जब यह स्पष्ट हो गया, कि जमीन साफ करके उसमें अनाज बोकर तथा फसल की रक्षा करने से अन्त में खाद्यान्न की प्राप्ति होगी, तब ही भोजन की समस्या हल होगी। अतः जो लोग इस कार्य में रुचि रखते थे, उन्होंने कृषिकर्म को अपनी अजीविका का साधन बना लिया। यह वर्ग अन्य वर्गों की खाद्यान्न संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता था।

वर्षा के बाद भूमि गीली होने पर सूर्य की तेज किरणों से जव उसमें ऊष्णता उत्पन्न होती थी, तब किसान/कृषिकर्मी बीजारोपण करता था, जिससे अंकुर उत्पन्न होकर धीरे-धीरे बढ़ते हुए फल-अवस्था को प्राप्त हो जाता था[7]। विभिन्न धान्य पैदा किए जाते थे[8] और वे सब प्रचुररूप से उत्पन्न होते थे। नगरों में कोल्हू अर्थात् कुटीयंत्र[9] थे जिसमें गन्ने का रस व तैल आदि निकाला जाता था।

खेतों व बगीचों में नहरों व नदियों[10], कुओं[11], बावड़िओं[12], और सरोवर व तालाबों[13] द्वारा सिंचाई की जाती थी। प्रपा[14] भी सिंचाई के साधन थे जिन्हें आज "अहर" कहा जाता है। खेत के पास गड्ढा खोद कर उसमें संचित किए गए पानी से सिंचाई करना अहर कहलाता है। कुँओं में घटीयंत्र[15] अर्थात् रहट लगाकर भी सिंचाई करते थे। आदिपुराण में "कुल्याप्रणालीप्रसृतोदका[16]" के कथन से स्पष्ट है कि सिंचाई के लिए नहरों में से कुल्यायें अर्थात् नालियां बनाकर पानी को अपने खेतों में लाया जाता था। वर्षा का जल भी सिंचाई का साधन था[17]। स्पष्ट है कि आदिकाल में कृषि केवल वर्षा पर अवलम्बित न होकर कृत्रिम सिंचाई के साधनों पर भी अवलम्बित थी।

आदिपुराण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कृषकबालायें छो-छो करके पक्षियों को उडाकर अपने खेतों की रक्षा करती थीं[18]। खेतों में

चंचापुरुष[19] स्थापित किए जाते थे, जिसे देखकर पशु डरकर भाग जाते थे। चंचापुरुष स्थापित करने की यह परम्परा आज भी विद्यमान है।

आदिपुराण से स्पष्ट है कि तत्कालीन किसान बुआई, निदाई, कटाई, मडाई एवं ओसाना आदि क्रियाओं से भलीभांति विज्ञ थे।[20] पलाल[21] अर्थात् ओसाने की क्रिया से भी वे विज्ञ थे। फसल काटने में यदि कहीं संघर्ष हो जाता था, तो उसकी सूचना वे सूर्यवाद्य[22] अर्थात् तुरही द्वारा देते थे।

कृषि की समृद्धि हेतु राज्य भी खाद, बीज व अन्य उपकरण उपलब्ध कराता था[23]। आपत्काल आदि की व्यवस्था हेतु राज्य खाद्यान्न का विशाल भण्डार बना कर रखता था[24]।

इस प्रकार आदि कालीन "कृषि करो और ऋषि जीवन बिताओ" का सिद्धान्त आज भी भारत के ग्रामीण अंचलों में विद्यमान है। कृषिकर्म में संलग्न व्यक्तियों को क्षत्रियवर्ग के बाद अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

4. विद्याकर्म

"विद्याशास्त्रोपयजीविनें[25]" से ज्ञात होता है कि अध्यापन, नृत्य, गायन आदि के द्वारा आजीविका कमाना विद्याकर्म है। ऋषभदेव के उपदेशों व शिक्षा से प्रभावित होकर कुछ व्यक्तियों ने पठन-पाठन, अध्यापन, गायन, नृत्य तथा आवश्यक क्रियाकाण्डों के सम्पादन को अपनी आजीविका का साधन बनाया। इन लोगों को आजीविका प्रदान करना राज्य का भी उत्तरदायित्व माना जाता था[26]। दिन भर परिश्रम करने के बाद थकावट दूर करने एवं पुनः तरोताजा होने के लिए मनोरंजन के साधन भी आवश्यक हैं। कारखाना अधिनियम 1948 के अन्तर्गत भी इनकी अनिवार्यता आज भी स्वीकार की गई है। किन्तु सभ्यता के आदिकाल में ऋषभदेव ने नृत्य, गान, वाद्य बजाना आदि की शिक्षा दी थी। जिन लोगों ने इसे आजीविका का साधन बनाया, वे विद्याजीवी कहलाये।

5. वाणिज्यकर्म

"वाणिज्यं वणिजां कर्म[27]" अर्थात् उत्पादित व निर्मित वस्तुओं का क्रय-विक्रय करके अर्थोपार्जन करना वाणिज्यकर्म है। ऋषभदेव से इसकी व्यावहार शिक्षा प्राप्त कर कुछ लोगों ने यह वणिक-वृत्ति अपना ली। राज्यपुत्रों के योग्य आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति - इन चतुर्विध राजविद्याओं में[28] वार्ता का भी उल्लेख होने से स्पष्ट होता है कि वाणिज्यकर्म राजपुत्रों के लिए भी अभिहित था। विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती करना वार्ता है[29]। वार्ता की व्याख्या कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के रूप में भी की जाती है। आदिपुराण[30] में वाणिज्यकर्म के साथ पशुपालन और पशुव्यापार को महत्व दिया गया है क्योंकि कोई भी राष्ट्र इनके विना अपना विकास नहीं कर सकता है। तत्कालीन पशुपालक पशुपालन में अति सतर्कता एवं सावधानी रखता था तथा पशुपालन की समस्त पद्धति से परिचित था[31]। पशुओं के क्रय-विक्रय के मध्य एक प्रतिभू होता था जिसकी जमानत पर पशु क्रय किए जाते थे[32]। व्यापार देश-विदेश में भी फैला हुआ था और विदेशगमन जलमार्ग व वायुमार्ग दोनों से होता था।

6. शिल्पकर्म

"शिल्प स्यात् करकौशलम्[33]" अर्थात् हाथों की कुशलता से धनोपार्जन करना शिल्पकर्म है। हस्तकौशल के कार्यों में बढ़ई, लौहार, कुम्हार, सुनार, वस्त्रकार के अतिरिक्त चित्र बनाना, कढ़ाई-बुनाई आदि कार्य भी इसी में शामिल हैं[34]। ऋषभदेव ने स्वय अपने हाथों से मिट्टी के वर्तन बनाकर दिखलाये एवं कण्ठ व वक्षस्थल के अनेक आभूषण बनाये[35]। आदिपुराण[36] से ज्ञात होता है कि ऋषभपुत्र भरत के पास भद्रमुख नामक शिलावटरत्न अर्थात् इंजीनियर था, जो मकान एवं राजभवनों के निर्माण करने की तकनीक में अत्यन्त दक्ष था। इसने भरत चक्रवर्ती के लिए गर्मी को नष्ट करने वाला धारागृह, वर्षा मे निवास करने योग्य गृहकूटक, सभी दिशाओं को देखने के लिए गिरिकूटक

भवन, व नृत्य देखने के लिए वर्धमान नामक नृत्यशाला निर्मित की थी। तब नव प्रकार के उद्योग संचालित थे, जिन्हें त्रिलोकसार में नवनिधि कहा गया है[37]। निधि का समाजशास्त्रीय अर्थ उद्योगशाला है। इस प्रकार आदिपुराण से स्पष्ट है कि तब लघु उद्योग के साथ-साथ भारी उद्योग भी थे किन्तु छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले लघु व कुटीर उद्योगों की प्रचुरता थी।

इस प्रकार आजीविका के लिए दुःखी एवं त्रस्त को षट् कर्मों का उपदेश देकर ऋषभदेव ने उनकी जीविका व भरणपोषण सम्बन्धी समस्याओं का समाधान किया। अतः उन्हें विश्व का प्रथम अर्थशास्त्री कहा जाना कदापि असंगत नहीं होगा। वस्तुतः वे अर्थशास्त्र के आदिप्रणेता हैं। उन्होंने एक अर्थशास्त्र की रचना की थी, जिसका उन्होंने अपने पुत्र को अध्ययन कराया था।

आदिपुराण में वर्णित आर्थिक विचार

आदिपुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव ने नगर, ग्राम, पत्तन आदि की रचना, लौकिक शास्त्रो का निर्माण, षट्कर्मों का लोकव्यवहार और दयामूलक धर्म की स्थापना कर इस भूतल पर सर्वप्रथम कर्मसृष्टि का प्रवर्तन किया था। इस प्रकार जो लोग अभी तक अलग-अलग रूप से यत्र-तत्र फैले हुए थे, वे ग्राम, नगरों आदि में सामूहिक रूप से रहने लगे जिससे सहकारिता व पारस्परिक सहयोग बढा। योग्यता के अनुसार आजीविका की व्यवस्था होने से श्रम-विभाजन का प्रारम्भ हुआ और उपभोग, उत्पादन, विनिमय व वितरण सम्बन्धी व्यवस्थायें सुस्थापित हुई। प्रत्येक वर्ण के लिए सुनिश्चित आजीविका से लोगों में विश्रृंखलता नहीं फैली क्योंकि पं कैलाशचन्द शास्त्री के अनुसार- प्रत्येक के लिए दो-दो कर्म निश्चित होगें अर्थात् असि और मषि से आजीविका करने वाले क्षत्रिय, कृषि और वाणिज्य से आजीविका करने वाले वैश्य और विद्या तथा शिल्प से आजीविका करने वाले शूद्र कहे जाते थे[38]। राज्य की व्यवस्था, पूर्ण रोजगार की स्थिति एवं

अधिकतम सामाजिक लाभ व कल्याण की प्राप्ति के लिए श्रम-विभाजन का यह बंधन आवश्यक था। कोई भी नियमों का उल्लघन न कर सके, ऐसी व्यवस्था की गई थी। नियमानुसार कोई भी व्यक्ति अपनी सुनिश्चित आजीविका छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं कर सकता था[39]। इस नियम के कारण उनकी सन्तानों के लिए रोजगार सुनिश्चित हो गया और पैतृक व्यवसाय अपनाने से नवीन पीढ़ी को उत्तरोत्तर दक्षता प्राप्त हुई। सामाजिक व कौटुम्बिक जीवन में सुदृढ़ता आई, वर्णसंकर को नियंत्रित किया गया, पारस्परिक वादविवाद बन्द हो गए और राजकीय व्यवस्था सुचारू रूपेण संचालित होने लगी। इस प्रकार मानव समाज में सहअस्तित्व, पारस्परिक सहयोग, सुरक्षा, समानता तथा विश्वबन्धुत्व का विचार वृद्धिंगत हुआ। संक्षेप में उन आर्थिक विचारों को निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :-

1. ग्रामीण व नगरीय संगठन

सामाजिक व आर्थिक सुदृढ़ता का आधार मजबूत व समुचित ग्रामीण व नगरीय संगठन है क्योंकि आर्थिक समृद्धि इन्हीं पर निर्भर होती है। ऋषभदेव ने आर्थिक संगठन की मजबूती के लिए गांव, नगर आदि का निर्माण कराया और अनेक देशों का विभाग किया। बगीचा एवं तालाबों सहित बाड़ से घिरे हुए घरों को ग्राम कहते हैं। सौ घर हों तो छोटा गांव तथा 500 घर हो तो बड़ा गांव कहा जाता था[40]। छोटे ग्रामों की सीमा एक कोस की तथा बड़े ग्रामों की सीमा दो कोस की मानी गई[41] तथा नदी, पर्वत, गुफा, श्मसान, वृक्ष व पुल आदि के द्वारा इनका सीमांकन किया जाता था[42]। अनेक भवन, बगीचे, तालाब, सहित प्रधान पुरुषों के रहने योग्य पुर या नगर कहे जाते थे[43]। 3. इनमें उपभोग योग्य वस्तुओं का उत्पादन व निर्माण किया जाता था, जिससे वे न केवल आत्मनिर्भर थे अपितु नगरों की आवश्यकता की पूर्ति भी करते थे।

2. वर्णव्यवस्था[44]

कर्म अर्थात् गुणों के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की रचना कर श्रमविभाजन के विचार को क्रियान्वित किया जाता था। इन सबके लिए अलग-अलग रूप से आजीविका की व्यवस्था भी सुनिश्चित कर दी गई थी।

3. लिपि व संख्या का आविष्कार[45]

वर्णमाला और अंकात्मक ज्ञान का न केवल विचार ही प्रस्तुत किया गया बल्कि उसकी व्यावहारिक शिक्षा भी प्रदान की गई। ऋषभदेव ने स्वयं अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान और पुत्री सुंदरी को अंकज्ञान कराया। इस प्रकार लिपि व संख्या का सर्वप्रथम प्रतिपादन कर शिक्षण, प्रशिक्षण, वैज्ञानिक तकनीकी एवं सामान्यज्ञान वृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया।

4. आर्थिक समानता का विचार[46]

आदिपुराण में पुत्रों व पुत्रियों को पैतृक सम्पत्ति का समान उत्तराधिकारी घोषित किया जाना यह सिद्ध करता है कि तब आर्थिक समानता को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस विचार को स्वयं ऋषभदेव ने अपने परिवार से ही प्रारम्भ किया।

5. करारोपण का विचार[47]

करारोपण का विचार बहुत स्पष्ट, सुविधाजनक, उत्पादक एवं अनिवार्य था। इस कर विचार के अनुसार दुधारू गाय को बिना पीड़ा पहुँचाये दूध दुहकर सुखी व प्रसन्न गाय एवं ग्वाले के समान ही राजा को प्रजा से उसे बिना पीड़ा पहुँचाये कर ग्रहण करना चाहिए। इससे प्रजा भी सुखी व प्रसन्न रहती है तथा राज्य के लिए पर्याप्त धन भी सहजता से मिल जाता है। न्यायमंशं ततो हरेत्[48] से स्पष्ट है कि उसे न्यायपूर्ण उचित अंश ही लेना चाहिए।

6. आवश्यकता हीनता का विचार

मानव की आवश्यकतायें आकाश की तरह असीम और सागर की लहरों की तरह अनन्त होती हैं, जिन्हें अपने सीमित साधनों से कभी भी पूरा या सन्तुष्ट नहीं कर सकता, न्यायोपार्जित द्रव्य से इच्छापूर्ति करना चाहिए[49]। आवश्यकता-विहीनता की स्थिति प्राप्त करने के लिए मूलतः दो उपायों का विवेचन किया गया है- **1. निवृत्तिमूलक** - जिसमें समस्त आवश्यकताओं एवं पदार्थों से मोह-ममत्व को त्यागकर वनवास स्वीकार कर आत्मस्वरूप में रमण किया जाता है। तथा **2. प्रवृत्तिमूलक** - जिसमे अहिंसा आदि अणु-चारित्र का परिपालन कर क्रमशः आवश्यकता हीनता की अवस्था की प्राप्ति की ओर बढ़ता जाता है। इसमें ग्यारह सोपानों की मुख्यता है।

7. ब्रह्मचर्य का विचार

असंयम या भोगाधिक्य से मन व इन्द्रियों को वश में रखने की शक्ति घटती है, सुस्ती आती है, जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं को मन्द अव्यवस्थित रखती है एवं विविध रोगों की उत्पत्ति होती है, जो कार्य-अक्षमता को जन्म देती है। परिणामस्वरूप सामाजिक उत्पादकता और राष्ट्रीय कुल उत्पादन में कमी आती है। दूसरी ओर असंयम से जनसख्या तेजी से बढ़ती है जिनके भरण-पोषण पर सरकार को भारी व्यय करना पड़ता है, फलतः राष्ट्रीय विकासात्मक कार्यक्रमों के लिए पूंजी बहुत कम उपलब्ध हो पाती है। इन सबके समाधान के लिए संयम या ब्रह्मचर्य को धारण करना चाहिए[50]। यह संयम न केवल सामाजिक – राष्ट्रीय समृद्धि अपितु आत्मिक समृद्धि भी लाती है।

8. आर्थिक शोषण से मुक्ति का विचार

आर्थिक शोषण से मुक्ति हेतु अपरिग्रह[51] का विचार दिया गया है। यह अपरिग्रहवाद व्यक्ति की अनावश्यक संचयवृत्ति को नियंत्रित कर अर्थात् शोषण की समाप्ति तथा समत्व की स्थापना करता है। अपरिग्रह

एक ऐसा मंत्र है जिस की सिद्धि से विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान करना संभव है।

9. अधिकतम कल्याण का विचार

आदिपुराण से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार ग्वाला अपने पशु-समूह को कांटे व पत्थरों से रहित तथा शीत व गर्मी की बाधा से शून्य वन में चराता हुआ उनका पोषण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने प्रजा का पालन व रक्षण करना चाहिए। "योगक्षेमं प्रयुंजीत[52]" से स्पष्ट है कि राजा को योग और क्षेम का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् जो वस्तु उनके पास नहीं है वह उन्हें देना चाहिए और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करना चाहिए। तभी प्रजा को अधिकतम कल्याण की प्राप्ति हो सकती है।

10. विनियोजन का विचार

आदिपुराण में "स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्। रक्षणं वर्धन चास्य पात्रे च विनियोजनम्[53]।" से स्पष्ट है कि न्यायपूर्वक धनार्जन, संरक्षण तथा संवर्धन के साथ इसे योग्य पात्र में विनियोजन भी करना चाहिए। शिक्षाव्रत के अतिथिसंविभाग में इसका उद्‌बोधन है। किन्तु इसके बदले में प्रति-प्राप्ति की आशा नहीं रखना चाहिए। व्याज लेना चाहिए या नही इसका स्पष्ट उल्लेख तो वहीं मिला किन्तु व्रतों की दृष्टि से देखें तो यह एक प्रकार का दान है जो निःकांक्षितभाव से किया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदिपुराण में समृद्धि, समानता और संगठन पूर्णतया विकसित है। मानव के सर्वांगीण विकास का पता चलता है। सभी लोग सुसंस्कृत, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और भौतिक व अभौतिक सुख-सतुष्टि से युक्त हैं। उनका सामाजिक व अध्यात्मिक धर्म आर्थिक विकास में बाधक न होकर साधक रहा है। भरपूर व खुशहाल जीवन जीने के बाद आध्यात्मिकता की शरण में आकर आत्मिक विकास कर

लेना उनका परम लक्ष्य था। वास्तव में आदिपुराण में धर्म, अर्थ एवं काम के समुचित सन्तुलन की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ-सूची :-

1. आ. पूज्यपाद- सर्वार्थसिद्धि, 3/27, पृ. 232 2. आदिपुराण 16/179 3. वही 39/143 4. वही 16/181 5. वही 16/184 6. वही 16/181 7. वही 3/179-182 8. वही 3/186-187 9. वही 35/37 10. वही 17/157 11. वही 4/72 12. वही 5/104 13. वही 4/72, 5/258-259 14. वही 4/71 15. वही 17/24 16. वही 35/40 17. वही 3/185 18. वही 35/35-36 19. वही 28/130 20. वही 26/120-121, 35/29-30 21. वही 12/244 22. वही 35/30 23. वही 42/176 24. वही 42/177-178 25. वही 16/181 26. वही 42/152-160 27. वही 16/182 28. वही 41/139 29. वही 38/35 "वार्ता विशुद्धवृत्तया स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठिति।" 30. वही 42/150-171 31. वही 42/139-167 32. वही 42/173, उत्तरपुराण 71/52-54 33. वही 16/182 34. वही, "चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम्।" 35. वही, 16/46-67 36. वही, 37/149-162, 177 37. वही, त्रिलोकसार, गा. 682 38. प. कैलाशचन्द- भगवान ऋभदेव, प्राक्कथन, पृ. 2 39. आदिपुराण 16/187,-242 40. वही, 16/164-165 41. वही, 16/166 42. वही 16/167 43. वही 16/169-170 44. वही 16/245-246 45. वही 16/102-104 46. वही 17/76-77 47. वही 48. वही 42/177-178 49. वही 41/158,42/14, तथा धर्मादिष्टार्थसपत्तिः "5/15, न्यायैकजीविकाः" 18/124 50. वही 20/159 "ब्रह्मचर्यैकतानता।" 20/164 "स्त्रीकथालोकससर्गप्राग्रतस्मृतयोजनाः। वर्ज्या वृष्य रसेनामा चतुर्थव्रतभावना।।" 51. वही 2/23, 20/160, 165 52. वही 42/168, 169 53. वही 42/13

– पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष-अर्थशास्त्र विभाग
दि. जैन कालिज, बड़ौत
180/12, पटेल नगर, मु.नगर

"सागारधर्मामृत में सल्लेखना"

श्री आनन्द कुमार जैन

1. सल्लेखना शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा-

जैन परम्परा के आचार नियमों के अन्तर्गत सल्लेखना एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। सल्लेखना शब्द सत् + लेखना का निष्पन्न रूप है। सत् से तात्पर्य समीचीन या सम्यक् है तथा लेखना शब्द 'लिख्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय होकर स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय के संयोग से निर्मित है।

लिख् धातु कई अर्थों में प्रयुक्त होती है।[1] यथा-

1. लिखना, प्रतिलिपि करना
2. खुरचना, छीलना
3. चराई, स्पर्श करना
4. पतला करना, कृश करना
5. ताड़ पत्र पर लिखने के लिए

किन्तु उक्त विविध अर्थों में से पतला करना, कृश करना या दुर्बल करना अर्थ ही यहाँ अभीष्ट है। आ. पूज्यपाद ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए लिखा है कि- अच्छी प्रकार से काय तथा कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है।[2]

2. सल्लेखना के पर्यायवाची नाम-

शास्त्रों में सल्लेखना के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं। जिनमें समाधिमरण, संथारा, अन्तिम विधि, आराधनाफल, संलेहणा और सन्यास आदि प्रचलित हैं।

3. समाधि साधक का लक्षण

पं. प्रवर आशाधर जी ने 'सागार धर्मामृत' में पूर्वाचार्यों द्वारा समाधि की परिभाषा को स्वीकार करते हुए अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में समाधिसाधक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्धयाऽऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येषः साधकः।।[3]

अर्थात् जो मरणान्त में सर्वांगीण ध्यान से उत्पन्न हुये हर्ष से युक्त होकर देह, आहार और मन, वचन तथा काय के व्यापार के त्याग से उत्पन्न ध्यानशुद्धि के द्वारा आत्मशुद्धि की साधना करता है वह साधक है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में भी साधक का यही लक्षण बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि-

भुक्त्यङ्गेहापरित्यागाद्ध्यानशक्त्याऽऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सोत्साहः साधमत्येषः साधकः।।[4]

अर्थात् जो उत्साहपूर्वक मरण समय में भोजन, शरीर तथा अभिलाषा के त्यागपूर्वक अपनी ध्यानजनित शक्ति से आत्मा की शुद्धता पूर्वक साधना करता है। उसे साधक कहते हैं।

4. सल्लेखना के भेद

सागारधर्मामृत में कहीं भी सल्लेखना के भेदों का वर्णन नहीं है। धवला टीका, भगवती आराधना तथा अन्य सल्लेखना सम्बन्धी ग्रन्थों में दो या तीन भेदों का प्रायः वर्णन मिलता है।

सामान्य रूप से सल्लेखना के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो भेद भगवती आराधना में वर्णित हैं-

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे।।[5]

अर्थात् सल्लेखना दो प्रकार की है आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर सल्लेखना कषायों मे होती है और बाह्य सल्लेखना शरीर में

इसी प्रकार धर्मसंग्रह श्रावकाचार मे भी वर्णित है कि– क्रम-क्रम से रागादि के घटाने को बाह्य सल्लेखना कहते हैं। राग, द्वेष, मोह, कषाय, शोक और भयादि का त्याग करना हितकारी आभ्यन्तर सल्लेखना है।

अन्न, खाने योग्य वस्तु, स्वाद लेने योग्य वस्तु तथा पीने योग्य वस्तु- इस प्रकार चार तरह की भुक्ति का सर्वथा त्याग करना यह बाह्य सल्लेखना है।[6]

द्रव्य तथा भाव रूप दो भेद-

पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में आ. जयसेन ने द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना इन दो भेदों का कथन किया है। वे लिखते हैं कि– आत्मसंस्कार के पश्चात् उसके लिए (साधक के लिए) ही क्रोधादि कषायरहित अनन्तज्ञानादि गुण लक्षण परमात्मपदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों का कृश करना भाव सल्लेखना है और उस भाव सल्लेखना के लिए काय क्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है।[7]

सल्लेखनाऽसंलिखतः कषायान्निष्फला तनोः।
कायोऽजडैर्दण्डयितुं कषायानेव दण्डयते।।[8]

कषायों को न घटाने वाले के लिए शरीर का घटाना निष्फल है, क्योंकि ज्ञानियों द्वारा कषायों का निग्रह करने के लिए ही शरीर कृश किया जाता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि कषायों को कृश करने पर शरीर निश्चित ही कृश होता है, किन्तु शरीर कृश करने पर कषायें कृश हो भी सकती है और नहीं भी। क्योंकि आहार के द्वारा मदोन्मत्त होने वाले पुरुष को कषायों का जीतना असम्भव ही है।[9]

समाधि के भक्तप्रत्याख्यानादि तीन भेदः-

धवला टीका के लेखक आ.वीरसेन ने सल्लेखना के प्रायोपगमन, इंगिनीमरण तथा भक्तप्रत्याख्यान इस प्रकार तीन भेद किये है।

वे कहते हैं कि-

तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमन्। आत्मोपकारसव्यपेक्षं

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्। आत्मपरोपकार सव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति। [ध/1/1,1,1/23/24]

अर्थात् अपने और पर के उपकार की अपेक्षा रहित समाधिमरण करना प्रायोपगमन है तथा जिस संन्यास में अपने द्वारा किये गये वैय्यावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीमरण समाधि कहते हैं। इसी प्रकार जिस संन्यास में अपने और दूसरे-दोनों के द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं।

वर्तमान में भक्तप्रत्याख्यान मरण ही उपयुक्त है। अन्य दो अर्थात् इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमन सम्भव नहीं हैं, क्योंकि ये दो मरण संहनन विशेष वालों के ही होते हैं। इंगिनीमरण के धारक मुनि प्रथम तीन (वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच तथा नाराच) संहननों में से कोई एक संहनन के धारक रहते हैं।[10] किन्तु इस पंचम काल में मात्र असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ही होता है अतएव भक्तप्रत्याख्यान मरण ही संभव है।

5. भक्तप्रत्याख्यान की स्थिति

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने भक्तप्रत्याख्यान के जघन्य मध्यम और उत्तम इन तीन भेदों का वर्णन करते हुए कहा है कि-

तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्। जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्। उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादश वर्षप्रमाणम्। मध्यमेतयोरन्तरालामिति।[11]

अर्थात् भक्तप्रत्याख्यान की विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की है। जघन्य का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उत्कृष्ट का बारह वर्ष है। इन दोनों का अन्तरालवर्ती सर्व काल प्रमाण मध्यम भक्तप्रत्याख्यान मरण का है।

6. सल्लेखना योग्य स्थान

योग्य स्थान विशेष के प्रसङ्ग में पं. आशाधर जी कहते हैं कि उपसर्ग से यदि कदलीघात मरण की स्थिति उत्पन्न हो तो साधक योग्य स्थान का विकल्प त्यागकर भक्तप्रत्याख्यान मरण को धारण करे। इसी विषय

को स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है कि–

भृशापर्वतकवशात् कदलीघातवत्सकृत्।
विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत्।।[12]

अर्थात् अगाढ़ अपमृत्यु के कारणवश कदली घात के समान एक साथ आयु के नाश की उपस्थिति होने पर साधक विचार रहित अर्थात् समाधि के योग्य स्थान का विचार न करके भक्तप्रत्याख्यान को स्वीकार करे।

सल्लेखना हेतु योग्य स्थान को इङ्गित करते हुए धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है कि–

संन्यासार्थी ज्ञकल्याणस्थानमत्यन्तपावनम्।
आश्रयेतु तदप्राप्तौ योग्यं चैत्यालयादिकम्।।[13]

अर्थात् संन्यास (सल्लेखना) के अभिलाषी पुरुषों को चाहिए कि जिस स्थान में जिन भगवान् का ज्ञान कल्याणक हुआ है। ऐसे पवित्र स्थान का आश्रय ग्रहण करें और यदि ऐसे स्थानों की कारणान्तरों से प्राप्ति न हो सके तो जिन मन्दिरादि योग्य स्थानों का आश्रय लेना चाहिए। कदाचित् साधक द्वारा स्थान की खोज करते हुए यदि रास्ते में भी मरण हो जाये तो भी वह श्रेष्ठ माना गया है। इस सम्बन्ध में पं. मेधावी ने अपने धर्मसंग्रह में कहा है कि सल्लेखना बुद्धि से किसी तीर्थ स्थान को यदि गमन किया हो और वहाँ तक पहुँचने से पहले ही यदि मृत्यु हो जाय तो भी वह आराधक है, क्योंकि समाधिमरण के लिए की हुई भावना भी संसार का नाश करने वाली है।[14]

पद्म कृत श्रावकाचार में मरण स्थान के लिये प्रासुक शिला को उपयुक्त कहा है।[15]

7. स्त्रियों के लिए निर्देश

वैसे तो स्त्रियों के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने अपवादलिङ्ग (सवस्त्र

दीक्षा) ही कहा है, परन्तु अन्त समय में जिसने परिग्रहादि उपाधियाँ छोड़ दी हैं, वे स्त्रियाँ भी पुरुष के समान औत्सर्गिक लिङ्ग (निर्वस्त्र दीक्षा) ग्रहण कर सकती हैं।[16]

8. विचलित साधक का स्थितिकरण

जब कोई साधक स्वीकार किये गये समाधिमरण से विचलित होने लगता है, तब निर्यापकाचार्य का कर्तव्य है कि वह साधक का स्थितिकरण करें, क्योंकि जव कोई सल्लेखना धारक अन्नजल के त्यागोपरान्त विचलित होकर पुनर्ग्रहण की भावना करें, तो उसे ग्रहण करने योग्य विविध प्रकार की उत्तम सामग्री दिखाना चाहिए। यदि कदाचित् अज्ञानता के वशीभूत होकर वह आसक्त होने लगे तो शास्त्र सम्मत अनेक कथाओं द्वारा साधक के वैराग्य में मदद करनी चाहिए। साथ ही यह भी वताना चाहिए कि तीनों लोकों में एक भी ऐसा पुद्गल परमाणु शेष नहीं है, जिसे इस शरीर ने नहीं भोगा है। अतः इस मूर्तिक (भोजनादि) से अमूर्तिक आत्मद्रव्य का उपकार किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है। अपितु यह तो वह अद्भुत समय है जव मन की एकाग्रता अन्य विषयों से हटाकर आत्मकल्याण की भावना में नियुक्त करने पर अनन्तानन्त काल से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा शीघ्र होती है, क्योंकि अन्त समय का दुर्ध्यान अधोगति का कारण बन जाता है। इसी अन्त समय की लालसा के दुष्परिणाम को दर्शाते हुए सागारधर्मामृत में स्पष्ट लिखा है कि–

क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं परेः।
तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटा सक्त भिक्षुवत्।।[17]

अर्थात् जिस पुद्गल में आसक्त होकर जीव मरेगा उसी जगह उत्पन्न होकर संचार करेगा। जैसे तरबूज में आसक्त होकर मरा साधु उसी मे कीड़ा बनकर उत्पन्न हुआ था।

9. पित्तादि से पीड़ित श्रावक विशेष को निर्देश

अन्त समय में साधक पुद्गल में आसक्त न हो इसका ध्यान रखते हुए निर्यापकाचार्य पित्तादि से पीड़ित साधक को मरण से कुछ समय पूर्व ही जल का त्याग करवाते हैं। धर्मसंग्रह श्रावकाचार में इसी बात का निर्देश करते हुए प. मेधावी कहते हैं कि– पित्तकोप, ऊष्णकाल, जलरहित प्रदेश तथा पित्तप्रकृति इत्यादि में से किसी एक भी कारण के होने पर निर्यापकाचार्य को समाधिमरण के समय जल पीने की आज्ञा उसके लिए देनी चाहिए तथा शक्ति का अत्यन्त क्षय होने पर एवं निकट मृत्यु को जानकर धर्मात्मा श्रावक को अन्त में जल का भी त्याग कर देना चाहिए।[18]

अन्त समय तक जल के निर्देश के पीछे गहरा भाव छिपा है, जिसका अभिप्राय है कि धर्म सहित मरण ही सफलता का सूचक है और इसी बात की पुष्टि करते हुये पं. आशाधर जी ने कहा कि–

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे सुधा।
सत्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम्।।[19]

अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु पूर्व तक भी धर्म पालन किया, परन्तु मरण समय धर्म की विराधना होती हैं तो किया गया धर्म व्यर्थ है। किन्तु जीवन भर कुछ भी नहीं किया और मरण धर्मसहित किया तो वह धर्म चिरकाल मे संचित पापों का प्रक्षालन करने वाला है।

इसी बात को एक दृष्टान्त के माध्यम से वे कहते हैं कि जीवन-भर राजा शस्त्र चलाना सीखे और युद्धक्षेत्र में शस्त्र चलाना भूल जाय तो जीवन भर किया गया समस्त शस्त्राभ्यास व्यर्थ है।[20]

10. समाधि साधक की आद्यान्त क्रियायें

साधक द्वारा जो भी पाप कृत, कारित, अनुमोदना से पूर्व में जीवनपर्यन्त गृह व्यापार में हुए हैं अथवा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय,

प्रमाद, योग, बुरी सङ्गति आदि अन्य कारणों से हुए हैं, उन सभी पापों का नाश करने के लिये साधक को आचार्य के समक्ष आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और सत्सेवित-इन दश दोषों से रहित होकर स्वयं आलोचना करनी चाहिए। तदनन्तर संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर समस्त महाव्रत धारण करना चाहिये। इसमें प्रथम शरीरादिक एवं भाई, बन्धु आदि कुटुम्बी लोगों में निर्ममता (अपनत्व त्याग) का चिन्तवन कर बाह्य परिग्रह का त्याग करना तत्पश्चात् शोक, भय, स्नेह, कलुषता, अरति, रति, मोह, विषाद, रागद्वेष आदि को छोड़ कर अंतरङ्ग परिग्रह का त्याग करना चाहिये, साथ ही बारह प्रकार के व्रतों को ग्रहण करना चाहिये। इसके पश्चात् सिद्धान्त ग्रन्थों का अमृतपान तथा महा आराधना अर्थात् समाधि से सम्बन्धित ग्रन्थों को पढ़कर और तत्त्व एवं वैराग्य का निरूपण करने वाले ग्रन्थों को पढ़कर मन शान्त करना चाहिये। इनके अध्ययन के साथ ही अवमौदर्य तप के द्वारा आहार को प्रतिदिन घटाना चाहिए और अनुक्रम से घटाते-घटाते हुए समस्त आहार का त्याग कर देना चाहिए। फिर उसका भी त्यागकर तक्र (मठा) एवं छाछ का सेवन करना चाहिए। फिर उसका भी त्यागकर गर्म जल ही ग्रहण करें तथा जब तक पूर्ण रूप से अन्त समय निकट न हो तब तक जल का त्याग न करें और अन्त समय निकट आते ही उसका भी त्याग कर शुभ उपवास धारण करें। सिद्धान्त शास्त्रों के पारगामी निर्यापक महाचार्य को निवेदन कर उनकी आज्ञानुसार जन्मपर्यन्त तक के लिये उपवास धारण करना एवं बहुत यत्न से उसका निर्वाह करना चाहिए। अन्त समय निकट होने पर पाँचों परमेष्ठियों के नाम का मन्त्र जाप करना चाहिए। यदि इसके उच्चारण में असमर्थ हो तो तीर्थंकर के वाचक 'णमो अरिहंताणं' इस एक ही पद का जप करें। यदि वचनों से उच्चारण में असमर्थ हो तो मन में ही जप करें। यदि मन में भी जप करने में असमर्थ हो तो उत्तर साधना करने वाले, वैयावृत्य करने वाले, अन्य लोग प्रतिदिन उसके कान में मन्त्रराज का पाठ सुनायें। इस प्रकार आराधक को मोक्ष प्राप्ति के लिये अन्त में जिन मुद्रा धारण कर प्राणोत्सर्ग करना चाहिए।

11. सल्लेखना के अतिचार

पं. प्रवर आशाधर जी ने पाँच अतिचारों से रहित सल्लेखना विधि में क्षपक प्रवृत्ति करे, इस प्रकार का उपदेश देते हुए कहा है कि--

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन्।
स निदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखना विधिना।।

अर्थात् संस्तर (सल्लेखना) में स्थित क्षपक जीवन तथा मरण की इच्छा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान को छोड़ते हुए सल्लेखना विधि से आचरण करे।

जीवनाकांक्षा- सल्लेखना के समय अपनी प्रसिद्धि देखकर अपनी सेवा करने वालों को देखकर, अपनी महिमा जानकर या अन्य किसी कारण से और जीने की आकांक्षा रखने वाले को जीवनाकांक्षा रूप अतिचार लगता है।

मरणाशंसा- रोगादिक से प्राप्त कष्ट से जिस साधक का मन संक्लेशित होने लगे और पीड़ा सहन न कर पाने की स्थिति में शीघ्र मरण की भावना करना मरणाशंसा है।

सुहृदनुराग- बाल्यावस्था में अपने साथ खेलने वाले, बुरे समय में साथ देने वाले मित्रों से मृत्यु से पूर्व मिलने की आकांक्षा सुहृदनुराग है।

सुखानुबन्ध- पूर्व में भोगे गये भोगों का स्मरण करना तथा उनमें अनुराग रखना। सुखानुबन्ध नामक अतिचार है।

निदान- समाधि के कठिन तपों के प्रभाव से जन्मान्तर में मुझे उच्च कोटि का वैभव प्राप्त हो, इस प्रकार की भावना निदान नामक पाँचवाँ अतिचार है।

12. समाधि का फल

समाधिमरण की विस्तृत विधि का कथन करने के उपरान्त अतिचारों का भी विधिवत् निरूपण सागारधर्मामृत में है, इसके पश्चात्

विधिपूर्वक मरण प्राप्त करने वाले जीव को स्वर्गादि अभ्युदयों की प्राप्ति होगी ऐसा निर्देश करते हुए पं. आशाधर जी कहते हैं। कि–

श्रावको श्रमणो वान्ते कृत्वा योग्यां स्थिराशयः।
शुद्धस्वात्मरतः प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदितः ।।[21]

अर्थात् जो श्रावक अथवा मुनि आगे कही जाने वाली विधि के अनुसार एकाग्र चित्त से अपनी शुद्धात्मा में लीन होकर प्राण छोड़ता है उसे स्वर्गादि अभ्युदयों की प्राप्ति होती है तथा मोक्ष का भागी होता है। यह कथन वर्तमान हुंडावसर्पिणी काल को ध्यान में रखकर कहा गया है। अन्य ग्रन्थकारों ने लिखा है कि उत्तम समाधि धारक मोक्ष प्राप्त करता है। मध्यम समाधि धारक सर्वार्थसिद्धि, ग्रैवेयको, परमोत्तम सोलहवें स्वर्ग में, सौधर्मादि स्वर्गों मे भोगों को भोगकर अन्त में तीर्थंकर या चक्रवर्ती पद की प्राप्ति करता है। जो जघन्य रीति से धारण करता है। वह देव एवं मनुष्यों के सुखों को भोगकर सात-आठ भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है–

शरीर ही धर्म का मुख्य साधन है इसलिए यदि शरीर रत्नत्रय की साधना में सहयोगी हो तो उसे जबरदस्ती नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह छूटता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि मृत्यु तो अवश्यंभावी है और किसी के द्वारा भी तद्भवमरण प्राप्त जीव की रक्षा संभव नहीं है।[22] सत्य तो यह है कि शरीर का त्याग करना कठिन नहीं है, किन्तु चारित्र का धारण करना और उसके द्वारा धर्मसाधना करना दुर्लभ है।[23] यदि शरीर स्वस्थ हो तो आहार-विहार से स्वस्थ बनाये, यदि रोगी हो तो औषधि से भी अधर्म का ही साधन बने या रोग वृद्धिगंत हो तो दुर्जन की तरह इसको छोड़ना ही श्रेयस्कर है।[24] वस्तुतः यह धर्म ही इस शरीर को इच्छित वस्तु प्रदान करने वाला है। शरीर तो मरणोपरान्त पुनः सुलभ है किन्तु धर्म अत्यन्त दुर्लभ है।[25]

सल्लेखना आत्महत्या नहीं

पं. आशाधर जी ने कहा है कि विधिपूर्वक प्राणों को त्यागने में आत्मघात का दोष नहीं लगता है, अपितु क्रोधादि के आवेश से जो विषपान करके या शस्त्रघात द्वारा या जल में डूबकर अथवा आग लगाकर प्राणों का घात करता है। वह आत्मघाती है, न कि वह व्यक्ति जो व्रतों के विनाश के कारण उपस्थित होने पर विधिवत् भक्तप्रत्याख्यान आदि के द्वारा सम्यक् रीति से शरीर त्यागता है।[26]

आ. समन्तभद्र ने पहाड़ से गिरना, अग्नि या पानी में कूदकर प्राण विसर्जन करने को लोकमूढ़ता कहा है।[27]

इन्हीं अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए कबीरदास ने कहा है। कि गंगा में नहाने से पाप धुलते और बैकुंठ की प्राप्ति होती तो सारे जलचर बैकुण्ठ में होते और सिर का मुण्डन होने से स्वर्ग प्राप्ति होती तो भेड़ सीधे स्वर्ग जाती।[28]

जहाँ तक व्रतों की रक्षा का प्रश्न है, इस पर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य जोड़ते हुए प. कैलाशचन्द्र शास्त्री सागारधर्मामृत की टीका के विशेषार्थ में लिखते हैं कि मुस्लिम शासन में न जाने कितने हिन्दू इस्लाम धर्म को स्वीकार न करने के कारण मार दिये गये, तो क्या इसको आत्मघात कहा जायेगा। जैनधर्म में भी समाधिमरण उसी परिस्थिति में धारण करने योग्य है जब मरण टाले भी नहीं टलता। अतः व्रतों की रक्षा एवं शरीर की रक्षा– इनमें से किसी भी एक को चुनना हो तो सभी दर्शनों (चार्वाक को छोड़कर) ने व्रतों की रक्षा का ही समर्थन किया है। किन्तु जब तक शरीर विधिवत् कार्य कर रहा है, तब तक उसे नष्ट न करना और जब सकल उपायों से भी धर्म का विनाशक ही सिद्ध होता हो, तो ऐसी परिस्थिति में इसको त्यागना उचित है।

वैसे तो प्राणों का विसर्जन युद्धक्षेत्र में भी होता रहा है। लाखों हिन्दुस्तानियों ने देश की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर किये है, इसे

बलिदान की संज्ञा दी गई है न कि आत्महत्या कहा गया है। झाँसी की रानी ने जीते जी अंग्रेजों के हाथ में न आने की कसम ली थी और इसे पूरा भी किया तो क्या इसे आत्महत्या कहा जायेगा? इनके द्वारा मृत्यु के सहर्ष आलिङ्गन करने को किसी ने आत्महत्या नहीं कहा अपितु सभी ने बलिदान ही कहा है। धर्म और कानून की नजरों में भी इस प्रकार की मृत्यु बलिदान शब्द से परिभाषित है, न कि आत्महत्या से। प्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि कहते हैं कि कोई चाहे न्यायसंगत आचरण की निन्दा करे अथवा प्रशंसा, उससे आर्थिक लाभ हो या हानि तुरन्त मरण प्राप्त हो जाय या सैकड़ों वर्षों तक जियें किन्तु धीर-वीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते हैं।

यहाँ भी नीतिकार ने धर्म और न्याय की रक्षा के लिए अपने प्राणों का परित्याग करना श्रेष्ठ कहा है उसे आत्महत्या नहीं कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी सल्लेखना को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता है।

– राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान,
श्रवणबेलगोला

1. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश
2. सर्वार्थसिद्धि- सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। 7/22/पृ.280
3. सागारधर्मामृत 8/1
4. धर्मसंग्रह श्रावकाचार 7/1
5. भगवती आराधना श्लोक सं. 206
6. सल्लेखनाऽथवा ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
   रागादीनां चतुर्भुक्तेः क्रमात्सम्यग्विलेखनात्।।
   रागो द्वेषश्च मोहश्च कषायः शोकसाध्वसे।
   इत्यादीना परित्यागः साऽन्तः सल्लेखना हिता।।
   अन्नं खाद्यं च लेह्यं च पानं भुक्तिश्चतुर्विधा।
   उज्झन सर्वथाऽप्यस्या बाह्या सल्लेखना मता।।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार 30 से 32

7. आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषाय रहितानन्त-ज्ञानादिगुण-लक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनुकरणं भावसल्लेखना, तदर्थ कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना।

[पचास्तिकाय टीका तात्पर्यवृत्ति 176/253/17]

8. सागारधर्मामृत, अध्याय आठ. श्लोक 22
9. अन्धो मदान्धैः प्रायेण कषायाः सन्ति दुर्जयाः।
ये तु स्वांगान्तरज्ञानात्तान् जयन्ति ते।। सा. धर्मामृत 8/23
10. आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो नितरा शूरः।

भगवती आराधना

11. धवला 1/1,1,1/24/1
12. सागार धर्मामृत, अध्याय 8, श्लोक 11
13. धर्मसगहश्रावकाचार श्लोक-42
14. प्रस्थितः स्थानतस्तीर्थे म्रियते यद्यवान्तरे।
स्यादेवाऽऽराधकस्तद्धि भावना भवनाशिनी।।
धर्मसंग्रह श्रावकाचार, सप्तम अध्याय, श्लोक सं. 42
15. प्रासुक भूमि शिला पर ए, नरेसुआ, कीजे संथारा सार।
कठिण कोमल समता भावि ग, नरेसुआ, कीजे नहीं खेद विकार।।
पद्मकृत श्रावकाचार, दोहा सं. 67
16. यदापवादिकं प्रोक्तमन्यदा जिनपैः स्त्रियः।
पुवंद्भण्यते प्रान्ते परित्यक्तोपधे किल।।
धर्मसंग्रह श्रावकाचार सप्तम अध्याय, श्लो. 50
17. सागारधर्मामृत, अष्टम अध्याय, श्लोक 53
18. रूजाद्यपेक्षया वाडम्भः सत्समाधौ विकल्पयेत्।
मुञ्चेत्तदपि चासन्न मृत्युः शक्तिक्षये भृशम्।।
धर्मसंग्रहश्रावकाचार
19. सागारधर्मामृत, अध्याय आठ, श्लोक. स. 16
20. नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोडरत्रवत्।
सुधीव स्खलतो मृत्यौ स्वार्थऽभ्रंशोऽयशः कदुः।।

21. सागार धर्मामृत, अध्याय आठ, श्लोक स. 25

22 न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्य वपुर्बुधैः।
न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम्।।

23 गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किन्तु गहनमिह वृत्तम्।।
तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहु ।।

24 काय स्वस्थोऽनुवर्त्य स्यात् प्रतीकार्यश्च रोगित ।
उपकार विपर्यस्यस्त्याज्य सद्भि खलो यथा।।6।।

25 नावश्य नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामद ।
देहो नष्टो पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभ।।7।।

26. न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतो वपुरूपेक्षितु ।
कषायावेशत प्राणान् विषाद्यैर्हिंसत. सहि।।8।।

27 आपगा सागर स्नानमुच्चय सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते।।122।।
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

28 मूड मुडाये जो सिधि होई।
स्वर्ग ही भेड न पहुची कोई।।

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमान मृगाकीर्णवनान्तर तरुस्थवत्।। इष्टोपदेश – 14

दावानल में जलते हुए जीवों को देखने वाले किसी वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आने वाली विपत्तियो का ख्याल नही करता है।

सागार धर्मामृत में ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन

– पं. पुलक गोयल

भ. महावीर की वाणी का संरक्षण प्राचीन काल से जैन आचार्यों ने अपना प्रमुख कर्तव्य मानकर किया। संरक्षण, ग्रन्थों में लिपिबद्ध करने मात्र से नहीं हो सकता था, वाणी के अनुसार आचरण भी शुद्ध रखना आवश्यक था। अतः आचरणवान् (मुनि) ही जिनागम का संकलन (लेखन) कर सकता है, यह मान्यता अभी भी बहुमत में है। वस्तुतः आचरणहीन व्यक्ति आगम से भी अपने शिथिलाचार के पोषण करने की वांछा रखता है। यही कारण है कि सभी ग्रन्थकर्ता महान् ज्ञाता होने के साथ ही आचरण करने एवं कराने वाले आचार्य हुए हैं।

परन्तु परिस्थितियाँ हमेशा अनुकूल नहीं रहतीं हैं। जैन साधुओं से ओतप्रोत इस भारत वसुधा पर कई बार जैन संतों एवं जैन ग्रन्थों का कत्लेआम भी हुआ। प्रारम्भ से ही वेद-विरोधी होने के कारण आपत्तियाँ आती रहीं है और जैन आगम के ज्ञाता, वक्ता और श्रोता जुगनुओं की तरह कहीं-कहीं दृष्टि गोचर होने लगे।[1]

सिद्धांत कभी नहीं बदलता, परन्तु आचरण में परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन होता रहता है। उस समय भी जैनत्व की रक्षा के लिए कुछ मुनियों ने सार्वजनिक स्थानों पर कोपीन पहनकर निकलना और एक ही स्थान (मठादि) में बने रहना प्रारम्भ किया और भट्टारक युग का प्रारम्भ हो गया। भट्टारकों का अस्तित्व मुगल शासन से एवं अन्य विरोधियों से अपने जिन मंदिर, जिन मूर्तियाँ और जैन शास्त्रों का संरक्षण के लिए था। संरक्षण का कार्य तो उन्होंने बहुत किया परन्तु ज्ञान का प्रचार-प्रसार रुक सा गया। ज्ञान न होने के कारण श्रावकों का आचरण दिन-प्रतिदिन शिथिलता को प्राप्त होता गया।

यही अवसर था जब पं. आशाधर जी ने श्रावकों में व्याप्त इस

शिथिलाचार को दूर करने के लिए और मुनियों का वास्तविक आचरण बताने के लिए "धर्मामृत" ग्रन्थ की रचना की तथा स्वयं ही इस ग्रन्थ के पदकृत्य भी लिखे। स्वोपज्ञ टीका होने से यह ग्रन्थ जिनागम के अन्य प्रमाणों का भी सटीक संकलन हो गया। इस ग्रन्थ का श्रावकोपयोगी भाग "सागार धर्मामृत" नाम से प्रसिद्ध है। तथा इस ग्रन्थ का परिगणन उत्कृष्ट श्रावकाचारों में भी होता है।

जैनाचार्यों ने श्रावक की चर्या को भी धर्म (संयम) माना है।[2] यह धर्म औपचारिक नहीं है अपितु कर्म निर्जरा का प्रमुख स्थान है। श्रावक की चर्या करने वाला मनुष्य या तिर्यञ्च सामान्य सम्यग्दृष्टि से भी अधिक निर्जरा जीवनभर करता रहता है।[3] असंख्यात् गुणीत होने वाली निर्जरा में श्रावक की दैनिक चर्या अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अनेक श्रावकाचारों में श्रावक की इस चर्या को समझाने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का सहारा लिया है।

जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिमाओं का मात्र नाम निर्देश ही किया है, वहीं श्रावकाचार ग्रन्थ के आद्य प्रणेता आचार्य समन्तभद्र ने ग्यारह प्रतिमाओं को परिभाषित करते हुए श्रावकों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। प्रायः सभी श्रावकाचारकारों ने आ. समन्तभद्र के आशय को मूल में रखकर श्रावक की क्रियाओं को अपने-अपने युग में और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वर्तमान युग में भी प्रतिमाधारी श्रावकों के मन में जिज्ञासाओ का समुद्र हिलोरे मारता रहता है। किस प्रतिमा तक व्यापार किया जा सकता है? किस प्रतिमा तक वाहन का प्रयोग संभव है? क्या द्वितीय प्रतिमा की सामायिक तृतीय प्रतिमा की सामायिक से भिन्न है? छठवीं प्रतिमा से पहले क्या रात्रि भोजन करा सकते हैं? और भी बहुत सारे प्रश्न श्रावकों के मानस-पटल में यदा-कदा आते रहते हैं। इन में से कुछ प्रश्नों का तार्किक समाधान पं. आशाधर जी ने अपने ग्रन्थ में संकलित किया है। अतः सागार धर्मामृत के आधार से यहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का

क्रमशः स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है।

प्रतिमा स्वरूप पर विचार करते हुए उसके लक्षण श्रावकाचारों के आधार पर निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1. प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहा गया है जो कि अभिसन्धिकृताविरति नाम से उल्लिखित की जा सकती है।
2. चारित्रधारण की प्रक्रिया में जब भोगों के प्रति विरक्ति होती है, संयम का प्रादुर्भाव होता है और प्रतिज्ञा का उदय होता है, इस स्थिति का नाम प्रतिमा है।
3. श्रावक के वे ग्यारह पद जिनमें निश्चय से प्रत्येक पद के गुण अपने से पूर्ववर्ती गुणों के साथ क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं, प्रतिमा कहलाती है।
4. दर्शनमोह कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व के अनुदय तथा सम्यक्-प्रकृति के यथास्थिति रूप अनुदय एवं उदय और अनंतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय क्षयोपशम से चारित्र की गतिमान स्थिति को प्रतिमा कहते हैं।[4]

प्रतिमाओं के भेद के विषय में प्रायः एकमतता परिलक्षित होती है, केवल आ. कार्तिकेय स्वामी इसके अपवाद है। उन्होंने अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में प्रतिमाओं की संख्या बारह मानी है।[5] प्रथम प्रतिमा में सामान्य आचरण को अनिवार्य बताया है, शेष ग्यारह आ. कुन्दकुन्द के वर्णन के समान ही हैं। अन्य सभी श्रावकाचारकर्ताओं ने भी, जिन्होंने प्रतिमाओं का उल्लेख किया है, प्रथम दर्शन प्रतिमा से पूर्व सामान्य आचरण का संकेत किया है, परन्तु उसे प्रतिमा का दर्जा नहीं दिया।

पं. आशाधर जी द्वारा मान्य प्रतिमाओं का नाम निर्देश क्रमानुसार निम्नलिखित है-[6]

1. दर्शन प्रतिमा
2. व्रत प्रतिमा

3. सामायिक प्रतिमा
4. प्रोषध प्रतिमा
5. सचित्त त्याग प्रतिमा
6. रात्रि भक्त प्रतिमा
7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा
8. आरम्भ त्याग प्रतिमा
9. परिग्रह त्याग प्रतिमा
10. अनुमति त्याग प्रतिमा
11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

इन प्रतिमाओं के छठे भेद को लेकर आचार्यों में मतभेद हैं। आ. समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा को रात्रि भुक्ति विरत नाम दिया है। वह रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है। चारित्र-पाहुड (गाथा 21), प्राकृत पंच संग्रह (1/136), बारस अणुपेक्खा (गा.69), गो.जीवकाण्ड (गा.476) और वसुनन्दि श्रावकाचार में छठी प्रतिमा का नाम राइभत्ती ही है। महापुराण में (पर्व 10) में दिवास्त्री संग त्याग नाम दिया है। सोमदेव के उपासकाचार में (853-854 श्लोक) तीसरी प्रतिमा अर्चा, पॉचवीं प्रतिमा अकृषिक्रिया-कृषि कर्म न करना और आठवीं प्रतिमा सचित्त त्याग है। श्वेताम्बर आम्नाय में योगशास्त्र (टीका 3/148), पॉचवीं प्रतिमा पर्व की रात्रि में कायोत्सर्ग करना, छठी प्रतिमा ब्रह्मचर्य, सातवीं प्रतिमा सचित्त त्याग, आठवीं प्रतिमा स्वयं आरम्भ न करना, नवमीं दूसरे से आरम्भ न कराना, दसवीं प्रतिमा उद्दिष्ट त्याग और ग्यारहवीं साधु की तरह निस्संग रहना, केशलोंच करना आदि है। यह अन्तर है।[7]

1. दर्शन प्रतिमा

जिसने (पूर्व अध्यायों में कहे गये) पाक्षिक श्रावक के आचार के आधिक्य से अपने निर्मल सम्यग्दर्शन को निश्चल बना लिया है, जो

संसार शरीर और भोगों से विरक्त है, अथवा प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोह कर्म के उदय से प्रेरित होकर स्त्री आदि विषयों को भोगते हुए भी उनके भोगने का आग्रह नहीं रखता, जिसकी एक मात्र अन्तर्दृष्टि अर्हन्त आदि पाँच गुरुओं के चरणों में ही रहती है, जो मूलगुणों में अतिचारों को जडमूल से ही दूर कर देता है और व्रतिक प्रतिमा धारण करने के लिए उत्कण्ठित रहता है तथा अपने शरीर की स्थिति के लिए (विषय सेवन के लिए नहीं) अपने वर्ण कुल और व्रतों के अनुरूप कृषि आदि आजीविका करता है वह दार्शनिक श्रावक माना गया है।[8]

पं. आशाधर जी ने पाक्षिक श्रावक और दर्शन प्रतिमाधारी में भेद स्पष्ट किया है। पाक्षिक श्रावक सम्यग्दर्शन व अष्टमूलगुण का सातिचार पालन करता है, जबकि प्रथम प्रतिमा में निर्दोष पालन का निर्देश है। अत एव नैगम नय की अपेक्षा पाक्षिक को दार्शनिक कहा है। तथा आपत्तियों से व्याकुल होने पर भी दार्शनिक उसको दूर करने के लिए कभी शासन देवता आदि की आराधना नहीं करता। पाक्षिक तो कर भी लेता है।[9]

2. व्रत प्रतिमा

जिसका सम्यग्दर्शन और मूलगुण परिपूर्ण है तथा जो माया, मिथ्यात्व और निदान रूप तीन शल्यों से रहित है, और इष्ट विषयों में राग तथा अनिष्ट विषयों में द्वेष को दूर करने रूप साम्यभाव की इच्छा से निरतिचार उत्तर गुणों को बिना किसी कष्ट के धारण करता है, वह व्रतिक है।[10]

इस प्रतिमा में श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करता है। विस्तार भय से यहां सिर्फ नामोल्लेख मात्र किया जा रहा है।

अणुव्रत- 1. अहिंसाणुव्रत

2. सत्याणुव्रत

3. अचौर्याणुव्रत

4. स्वदार संतोषाणुव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत)

5. परिग्रह परिमाणाणुव्रत

गुणव्रत- 1. दिग्विरति व्रत

2. अनर्थदण्ड व्रत

3. भोगोपभोग परिमाण व्रत

शिक्षाव्रत- 1. देशावकाशिक व्रत

2. सामायिक व्रत

3. प्रोषध व्रत

4. अतिथि संविभाग व्रत

द्वितीय प्रतिमा धारी श्रावक गाय, बैल आदि जानवरों के द्वारा आजीविका न करे। अपने उपयोग में लेने पर बाँधे अथवा निर्दयता से न बाँधे। रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करे। पाक्षिक श्रावक रात्रि में जल, औषधि वगैरह आदि ले सकता है परन्तु व्रती श्रावक नहीं। जमीन आदि में गड़ा धन नहीं लेता तथा अपने धन में भी संदेह हो जाने पर उसको नहीं स्वीकारना चाहिए। द्विदल का सेवन (कच्चे गोरस के साथ) न करे तथा वर्षा काल में पत्ते की शाक-भाजी का सेवन नहीं करे। तथा वनजीविका, अग्निजीविका, शकटजीविका, स्फोटजीविका, भाटकजीविका, यन्त्रपीडन, निलांछन कर्म, असती पोष, सरःशोष, दवदान, विषव्यापार, लाक्षाव्यापार, दन्तव्यापार, केशव्यापार, रसव्यापार आदि क्रूर दयाविहीन कार्यों (खर कर्म) को न करे। प्राणिवध में निमित्त होने से भूमि, मकान, लोहा, गाय, घोड़ा आदि का दान न करे। तथा सम्यग्दर्शन के घातक सूर्यग्रहण में, चन्द्रग्रहण में, संक्रान्ति में और माता-पिता आदि के श्राद्ध में अपना द्रव्य दान न करे।[11]

3. सामायिक प्रतिमा

मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणाम को साम्य कहते हैं। दर्शन मोह जन्य परिणाम मोह है और चारित्रमोह जन्य परिणाम क्षोभ हैं। इनसे रहित परिणाम साम्य हैं। साम्यभाव का धारी सामायिक प्रतिमा वाला है। सामायिक तीनों संध्याओं में की जाती है। उस समय कष्ट आने पर साम्यभाव से विचलित नहीं होना चाहिए। तभी वह सामायिक प्रतिमा कहलाती है।[12]

सामायिक की विधि बताने के लिए आ. समन्तभद्र का अनुसरण किया है। तीन बार चतुरावर्त करके, चार प्रणाम करके जातरूप में स्थित होकर दो आसनों से त्रियोग शुद्ध होकर, तीनों संध्याओं में अभिवन्दन करते हुए सामायिक करनी चाहिए।[13]

सामायिक प्रतिमा वाला भी पूर्व में कहे बारह व्रतों का पालन करता है। उनमें भी सामायिक व्रत है। परन्तु इनमें पर्याप्त अंतर अवलोक्य है। सामायिक व्रत में एक बार या दो बार या तीन बार सामायिक की जाती है परन्तु तृतीय प्रतिमा में तीनों बार नियम पूर्वक सामायिक होनी चाहिए तथा व्रत अतिचार सहित होता है, परन्तु प्रतिमा में निरतिचार पालन की प्रमुखता है। मुनिवत् सामायिक करना इस प्रतिमा का लक्ष्य है। यदि सामायिक व्रत देवालय का शिखर है तो सामायिक प्रतिमा शिखर पर होने वाला कलशारोहण है।[14]

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा

जो श्रावक दर्शन, व्रत और सामायिक प्रतिमा में सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण होता हुआ प्रोषधोपवास की प्रतिज्ञा के विषयभूत सोलह पहर पर्यन्त साम्यभाव से अर्थात् भाव सामायिक प्रतिमा में सामायिक करते हुए जो स्थिति भावसाम्य की रहती है वैसी ही स्थिति प्रोषधोपवास में सोलह पहर तक रहनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि वह सोलह पहर तक ध्यान में बैठा रहता है। मतलब है साम्यभाव के बने रहने से।[15]

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न में जिन मंदिर में जाकर सामायिक करके चारों प्रकार के आहार त्याग करके उपवास का नियम कर ले और घर का सब काम-धाम छोड़कर रात्रि को धर्म चिन्तन पूर्वक बितावे। सुबह उठकर क्रिया कर्म करके शास्त्र स्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशी का दिन बितावे। फिर सामायिक करके उसी तरह से रात्रि को बितावे। प्रातः उठकर सामायिक करे फिर पूजन करे अनन्तर आहार दान करके, स्वयं भोजन करे।[16]

प्रोपधोपवास के काल में चारों प्रकार का आहार, स्नान, तेल उबटन, गन्ध, पुष्प, विशिष्ट वस्त्राभरण और सावद्य आरम्भ सर्वात्मना छोड़ देता है। ब्रह्मचर्य धारण करता है, शरीर आदि से ममत्व नहीं रखता। परिणामतः वह समीपवर्ती लोगों को भी ऐसे मुनि की तरह लगता है, जिस पर किसी ने वस्त्र डाल दिया है। वह अशुभ कर्म की निर्जरा के लिए मुनि की तरह पर्व की रात बिताता हैं और किसी भी परिषह अथवा उपसर्ग द्वारा समाधि से च्युत नहीं होता है।[17]

प्रोषधोपवास व्रत एवं चतुर्थ प्रतिमा में अंतर सामायिक व्रत एवं तृतीय प्रतिमा के समान यहाँ भी जानना चाहिए। व्रत प्रतिमा पालन के समय में वे अणुव्रतों की रक्षा के लिए होते हैं परन्तु तृतीय एवं चतुर्थ प्रतिमा में निरतिचार अवश्य करणीय होते हैं।

5. सचित्त त्याग प्रतिमा

पूर्वोक्त चार प्रतिमा का निर्वाह करने वाला जो दया मूर्ति श्रावक अप्रासुक अर्थात् अग्नि में न पकाये हुए हरित अंकुर, हरित बीज, जल, नमक आदि को नहीं खाता, उसे शास्त्रकारों ने सचित्त विरत श्रावक माना है।

चित्त अर्थात् जीव, जीव से सहित को सचित्त कहते है। आगम में हरित वनस्पति में अनन्त निगोदिया जीवों का वास कहा है। प्रत्येक

वनस्पति के दो भेद हैं- सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से साधारण वनस्पति (निगोदिया जीव) रहते हैं उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। ऐसी वनस्पति को पञ्चम प्रतिमाधारी श्रावक पैर से छूने में भी ग्लानि करता है। उसका भक्षण करना तो संभव ही नहीं है।[18]

जिस प्रत्येक वनस्पति के साधारण वनस्पति कायिक जीव नहीं रहता है उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जैसे-पूर्ण पका हुआ केला, पपीता आदि। ऐसी वनस्पति को भी अप्रासुक अवस्था में ग्रहण नहीं करता है। प्रासुक करने की विधि को कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अच्छी प्रकार से स्पष्ट किया है। यहाँ प्रासंगिक होने से कथन किया जा रहा है।[19]

1. जो सब्जी सूख चुकी है वह काष्ठ रूप हो जाने से अचित्त है, जैसे सुपारी।
2. जो अग्नि में पका ली गई है वह अचित्त है, जैसे टमाटर की सब्जी आदि।
3. जो तप्त अर्थात् गर्म कर ली गई है, वह अचित्त है जैसे उबला जल, अंदर तक गर्म फल आदि।
4. आम्ल रस तथा लवण मिश्रित का अर्थ यह है कि जिस प्रकार दूध में शक्कर डाली जाती है, उसी तरह यदि वह फल अंदर में भी सर्वांश रूप से अम्ल या लवण से मिश्रित हो गया हो तब वह अचित्त हो जाता है, जो ककडी, सेव आदि में सम्भव नहीं होता। जैसे कच्चे नारियल का पानी सचित्त होता है, उसमें नमक मिर्च का चूर्ण डालकर घोल दिया जाये तो वह अचित्त हो जाता है।
5. यंत्र से छिन्न करने का तात्पर्य यह है कि उस वस्तु को मिक्सी मे डालकर ऐसा छिन्न भिन्न कर लिया जाए कि वह कपड़े में से छन सके। जैसे आम का रस, अनार का रस आदि। केवल चाकू से सेव आदि के चार-छह टुकड़े करने पर वे अचित्त नहीं कहे जा सकते।[20]

सचित्त विरत श्रावकों की दो विशेषताएँ आश्चर्य पैदा करने वाली हैं- एक उनका जिनागम के प्रामाण्य पर विश्वास और दूसरा उनका जितेन्द्रियपना। जिस वनस्पति में जन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते, उसको भी न खाना उनकी दूसरी विशेषता का समर्थन करता है।[21]

6. रात्रि भक्त प्रतिमा-

जो पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओं के आचार में पूरी तरह से परिपक्व होकर स्त्रियों से वैराग्य के निमित्त में एकाग्रमन होता हुआ मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना से दिन में स्त्री का सेवन नहीं करता, वह रात्रि भक्त व्रत होता है।[22]

यह कहा जा सकता है कि दिन में स्त्री सेवन तो विरले ही मनुष्य करते हैं। इसमें क्या विशेपता हुई। किन्तु जो दिन में केवल काय से ही सेवन नहीं करते वे भी मन से, वचन से और उनकी कृत कारित अनुमोदना से सेवन करते हैं उसी का त्याग छठी प्रतिमा में होता है। वसुनन्दी श्रावकाचार में भी यही वर्णन है।[23]

परन्तु आ.समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा की परिभाषा करते हुए चारों प्रकार के आहार का रात्रि में त्याग कहा है। द्वितीय प्रतिमा वाला रात्रि में कदाचित् पानी, औषध आदि ले सकता था। परन्तु यहाँ पानी भी नहीं लेता है।

रात्रि भक्त शब्द का अर्थ दोनों प्रकार से किया जा सकता है। भक्त का अर्थ स्त्री सेवन भी होता है। जिसे भाषा में भोगना कहते हैं और भोजन भी होता है। इस ग्रन्थ के मत से जो रात्रि में स्त्री सेवन का व्रत लेता है वह रात्रि भक्त व्रत है और रत्नकरण्डक के अनुसार जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है वह रात्रिभक्त व्रत है।[24]

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

पहले छह प्रतिमाओं मे कहे गये और क्रम से बढ़ते हुए सयम के अभ्यास से मन को वश में कर लेने वाला जो श्रावक मन-वचन-काय से

मानवी (दैवी), तिर्यञ्चि और उनके प्रतिरूप समस्त स्त्रियों को रात्रि अथवा दिन में कभी भी नहीं सेवन करता है वह ब्रह्मचारी है।[25]

जो ब्रह्म में चरण करता है वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं- चारित्र, आत्मा, ज्ञान आदि।[26] अर्थात् निश्चय से तो आत्मा में रमण करने वाला ही ब्रह्मचारी है और व्यवहार में जो सब स्त्रियों के सेवन का त्यागी है। वह ब्रह्मचारी है। इस प्रतिमा से पूर्व वह अपनी विवाहिता पत्नि का सेवन संतानोत्पत्ति के लिए अर्थात् काम पुरुषार्थ के लिए कर सकता था, परन्तु इस प्रतिमा में विवाहिता पत्नी के साथ भी मन वचन काय से अब्रह्म का त्याग होता है। गृह में स्थित होकर भी जो ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करता है, उसकी प्रशंसा सर्वत्र होती है। गुणभद्राचार्य ने तो निर्दोष ब्रह्मचर्य पालन करने वाले ग्रहस्थ को नमस्कार किया है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा की यह महिमा वास्तव में ब्रह्मचर्य साधना की दुर्लभता का द्योतक है। जिसने कुशील रूपी पाश को तोड़ दिया है। जो युवतीजन के वचन बाणों से अभेद्य है, वास्तव में वह ही शूरवीर है।[27]

8. आरम्भ त्याग प्रतिमा

पहले की सात प्रतिमाओं, संयम में पूर्णनिष्ठ जो श्रावक प्राणियों की हिंसा का कारण होने से खेती, नौकरी, व्यापार आदि आरम्भों को मन-वचन-काय से न तो स्वयं करता है, और न दूसरों से कराता है वह आरम्भ विरत है।[28]

इस प्रतिमा से पूर्व खर कर्मो से आजीविका का निषेध हो चुका था, यहाँ अल्प हिंसा वाले आरम्भ का भी कृत कारित से नहीं करता हुआ स्वयं को प्राणिघात से विरत करता है। रोजगार धन्धे के कामों को आरम्भ कहते हैं क्योंकि उनसे जीवनघात होता है। किन्तु दान-पूजा आदि को आरम्भ नहीं कहते हैं क्योंकि ये प्राणिघात के कारण नहीं हैं, प्राणियों को पीड़ा से बचाकर करने से ही दान पूजा सम्भव होती है।

परन्तु प्राणिवध से रहित व्यापार करना संभव नहीं है। अत एव यहाँ धार्मिक कार्यों पूजा आरती आदि का निषेध नहीं है।

यह श्रावक अपना व्यापार आदि अपने योग्य पुत्रादि को सौंप देता है, आवश्यकता पड़ने पर सलाह और अनुमति भी दे सकता है। वस्त्रों का प्रक्षालन भी प्रासुक जल से स्वयं करता है अथवा साधर्मी से करवाता है। अर्थात् अपने लिए या दूसरे के लिए जिसमें आरम्भ का लेश भी हो उस क्रिया को नहीं करता। जो मुमुक्षु पाप से डरता हुआ भोजन भी छोड़ना चाहता है वह जीवघात वाली क्रियाएँ कैसे कर या करा सकता है?

9. परिग्रह त्याग प्रतिमा

पहले की दर्शन आदि प्रतिमा संवधी व्रतो के समूह से जिसका सन्तोष बढ़ा हुआ है वह आरंभ विरत श्रावक (ये मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ) ऐसा संकल्प करके मकान, खेत आदि परिग्रहों को छोड़ देता है उसे परिग्रह विरत कहते हैं।[29]

परिग्रह मे जो ममत्व भाव होता है उसके त्याग पूर्वक परिग्रह के त्याग को परिग्रह विरत कहते हैं। ये मेरा नहीं है और न मैं इनका हूँ, इसका मतलब है कि न मैं इनका स्वामी और भोक्ता हूं और न ये मेरे स्वत्व और भोग्य हैं। इस संकल्प पूर्वक परिग्रह का त्याग किया जाता है।

परिग्रह क्रोधादि कषायों की, आर्त और रौद्र ध्यान की, हिंसा आदि पाँच पापों की तथा भय की जन्मभूमि है, धर्म और शुक्ल ध्यान को पास भी नहीं आने देती ऐसा मानकर दस प्रकार के बाह्य परिग्रह से निवृत्त संतोषी श्रावक परिग्रह त्यागी होता है।[30]

पं. आशाधर जी ने अपनी पूर्ण सम्पदा का मकान, स्वर्ण आदि का सकलदत्ति पूर्वक अन्वय दान करने की विधि बताते हुए वस्त्र मात्र

परिग्रह रखने और मकान में रहते हुए स्त्री-पुत्रादि से भी लगाव घटाने का संकेत दिया है।[31]

10. अनुमति त्याग प्रतिमा

दार्शनिक आदि नौ प्रतिमाओं के अनुष्ठान में तत्पर जो श्रावक धनधान्य आदि परिग्रह, कृषि आदि आरम्भ और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कर्म में मन-वचन-काय से अनुमति नहीं देता वह अनुमति विरत है।[32]

दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक की विशेष विधि का कथन लाटी संहिता में प्राप्त होता है। पं. आशाधर जी से पूर्व किसी श्रावकाचर में यह वर्णन नहीं है। यह श्रावक भोजन में यह बनाना और यह नहीं बनाना, ऐसा आदेश नहीं देता। मुनि की तरह उसे प्रासुक, शुद्ध अन्न देना चाहिए। घर में रहे, सिर के बाल आदि कटवाये न कटवाये, उसकी इच्छा है। अब तक न तो वह नग्न ही रहता है और न किसी प्रकार का वेष ही रखता है। चोटी, जनेऊ आदि रखे या न रखे उसकी इच्छा है। जिनालय में या सावद्य रहित घर में रहे। बुलाने पर अपने सम्बन्धी के घर या अन्य के घर भोजन करे।[33]

यह अनुमति विरक्त श्रावक चैत्यालयादि में रहता हुआ स्वाध्याय करते हुए अपना समय व्यतीत करता है तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन करने के लिए उद्यत होता है। गुरुजन बन्धु-बान्धव और पुत्रादि से यथायोग्य पूछकर गृहत्याग कर देता है।

11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

उन-उन व्रतरूपी अस्त्रों के द्वारा पूरी तरह से छिन्न भिन्न किये जाने पर भी जिसका मोह रूपी महान् वीर किंचित् जीवित है, वह उत्कृष्ट अंतिम श्रावक अपने उद्देश्य से बने भोजन को भी छोड़ देता है।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी का मोह अभी किञ्चित् शेष है उसी का यह फल है कि वह पूर्ण जिनरूप मुनि मुद्रा धारण करने में असमर्थ है। अपने उद्देश्य से बनाए गए भोजन को भी स्वीकार नहीं करता। भोजन को भी स्वीकार न करने से यह अभिप्राय है कि नवकोटि से विशुद्ध भोजन को ही स्वीकार करता है। तथा भोजन की तरह ही अपने उद्देश्य से बने उपधि, शय्या, आसन आदि को भी स्वीकार नहीं करता।[34]

पं. आशाधर जी ने इस प्रतिमा के दो भेद किये हैं जिसका नामकरण लाटी संहिता में क्षुल्लक एवं ऐलक किया गया है।[35]

इनका स्वरूप क्रमशः उद्धृत किया जाता है-

1. क्षुल्लक- प्रथम उत्कृष्ट श्रावक एक सफेद कोपीन, लंगोटी, और उत्तरीय वस्त्र धारण करता है। वह अपने दाढ़ी, मूंछ और सिर के बालों को कैंची या छुरे से कटवा सकता है। उठते-बैठते हुए जन्तुओं को बाधा न पहुँचाने वाले कोमल वस्त्र वगैरह से (मयूर पिछी का निर्देश नहीं हैं) स्थान आदि को साफ करे और दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में चारों प्रकार के आहार के त्याग पूर्वक उपवास अवश्य करता है।[36]

प. आशाधर जी ने इसके भी दो भेद कर दिये हैं, एक अनेक घर से भिक्षा लेने का नियम वाला और दूसरा एक घर से ही भिक्षा लेने का नियमवाला। एक घर से ही भिक्षा लेने वाला उत्कृष्ट श्रावक मुनियों के पश्चात् दाता के घर में जाकर भोजन करता है। यदि भोजन न मिले तो नियम से उपवास करता है। परन्तु अनेक घर से भिक्षा लेने वाला श्रावक हाथ में पात्र लेकर, श्रावक के घर जाकर, धर्मलाभ, कहकर भिक्षा की प्रार्थना करता है अथवा मौन पूर्वक अपना शरीर श्रावक को दिखाकर, भिक्षा के मिलने या न मिलने में समभाव रखते हुए आगे बढ़ जाता है। पर्याप्त भोजन मिल जाने पर प्रासुक जल प्राप्त कर शोधन करके भोजन करता है। प्राप्त भोजन का मुनि आदि को दान भी कर सकता है।[37]

2. ऐलक - दूसरे उत्कृष्ट श्रावक की क्रिया पहले के समान है। विशेष यह है कि यह आर्य कहलाता है, दाढी, मूंछ और सिर के बालों को हाथ से उखाड़ता है, केवल लंगोटी पहनता है और मुनि की तरह पीछी रखता है। अन्य गृहस्थ के द्वारा अपने हस्तपुट में ही दिये गये आहार को सम्यक्रूप से शोधन कर ग्रहण करता है। इन श्रावकों को आपस में, इच्छाकार, कहते हुए विनय व्यवहार करना चाहिए। ये श्रावक वीर चर्या, दिन प्रतिमा योग, आतापन आदि त्रिकाल योग, सूत्र रूप परमागम और प्रायश्चित शास्त्र के अध्ययन के अधिकारी नहीं है।

संसार परिभ्रमण का नाश करने के लिए दान, शील, उपवास और जिनादि पूजन के भेद से भी चार प्रकार का अपना आचार, श्रावकों को अपनी-अपनी प्रतिमा सम्बन्धी आचरण के अनुसार करना चाहिए। तथा गुरु अर्थात् पञ्च परमेष्ठी, दीक्षा गुरु और प्रमुख धार्मिक पुरुषों से लिए गये व्रत को प्राणान्त होने पर भी भंग नहीं करना चाहिए। एवं निरंतर भावना करना चाहिए कि मैं शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मरण के समय होने वाली सल्लेखना को अर्थात् समाधि पूर्वक मरण अवश्य करूंगा।

मुनि बनने की इच्छा होते हुए भी स्वयं को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, एवं आध्यात्मिक रूप से परिपक्व करने में ग्यारह प्रतिमाओं का यह वैज्ञानिक क्रम अधिकाधिक सहायक सिद्ध होता है। एक सामान्य पुरुष भी क्रमशः इन सोपानों को प्राप्त करता हुआ दृढ़ चारित्र वाला, सम्यक्त्वी और पर्याप्त ज्ञान का अर्जन कर मोक्षमार्ग का राही हो सकता है। वर्तमान युग इस प्रकार प्रतिमाओं का पालन करते हुए गृहस्थ धर्म का निर्वाह कर आत्म कल्याण करने में सक्षम है।

सन्दर्भ सूची

1. ध. सा. 1/7
2. चा. पा. गा. 20
3. त. सू. 9.25
4. श्रा.सं.अं.पृ.361-362
5. का.अनु.गा. 305-306
6. ध. सा. 1/17
7. ध. सा. पृ. 33
8. ध. सा. 37-8
9. ध. सा. पृ. 125-126
10. ध. सा. 4/1
11. ध. सा. 5/53
12. ध. सा. 7/1
13. र. श्र. श्लो. 139
14. ध. सा. 7/3
15. ध. सा. 7/4
16. का.अनु गा. 373-376
17. ध. सा. 7/7
18. ध. सा. पृ. 283
19. का. अनु. गा. 379
20. जि. स. पृ. 179
21. ध. सा. पृ.284
22. ध. सा.7/12
23. वसु. श्रा. गा. 296
24. ध. सा. पृ. 286
25. ध. सा. 7/16
26. आत्मा
27. प्र.र.मा. श्लोक 8
28. ध. सा. 7/21
29. ध. सा. 7/23
30. चा. सा. पृ. 19
31. ध. सा. पृ. 291-293
32. ध. सा. 7/30
33. लाटी सं. 7/47-50
34. ध. सा. पृ. 299
35. लाटी सं. 7/55
36. ध. सा. 7/38-39
37. ध. सा. पृ. 30
38. ध. सा. 7/48-49

श्री दि. जैन श्रमण संस्कृति
संस्थान सांगानेर, जयपुर

भगवान महावीर का देशना स्थल एवं गणधर

– पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन रजवॉस

कर्मो पर विजय प्राप्त करने के लिये क्रमश: एक एक सोपान चढ़ते हुये, भगवान महावीर ने बारहवें गुणस्थान में चौदह प्रकृतियों का नाश कर, अन्तःकरण में केवलज्ञान रूपी सूर्य के आलोक को प्राप्त किया। कैवल्य प्राप्त करते ही भगवान सर्वज्ञ हो गये, जगत् पूज्य हो गई वह तिथि और वह स्थान, वह दिन और वह जृम्भिका ग्राम, ऋजुकूला नदी का किनारा और वह शालवृक्ष। इन्हें सब वन्दन करते हैं, इनके विषय में पूर्वाचार्यों के भी मत दृष्टव्य हैं :-

वइसाह सुक्क दसमी हत्ते रिक्खम्मिवीरणाहस्स।
रिजुकूलणदी तीरे अवरण्हे केवलं णाणं।।4/709।। तिलोयपण्णत्ति

अर्थात्- वीर नाथ जिनेन्द्र को वैसाख शुक्ल दशमी के अपराह्न में हस्त नक्षत्र के रहते ऋजुकूला नदी के किनारे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। ऋजुकूला नदी के साथ जृम्भिका ग्राम का उल्लेख प्राप्त होता है। जिससे केवलज्ञान उत्पत्ति के स्थान का निर्णय शीघ्रता से हो जाता है।

विहरन्नथ नाथोऽसौ गुण ग्राम परिग्रहः ऋजुकूलापगाहे जृम्भिकग्राममिथिवान।।
तत्रातापन योगस्थ सालाभ्याशशिलातले वैसाख शुक्ल पक्षस्य दशम्यां षष्ठमाश्रितः।। हरिवंश पुराण सर्ग 2, 57, 58

अर्थात्- गुण समूह रूपी परिग्रह को धारण करने वाले श्री वर्धमान स्वामी विहार करते हुये ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृम्भिका ग्राम पहुँचे। वहाँ वैसाख शुक्ला दशमी के दिन दो उपवास का नियम लेकर वे शालवृक्ष के नीचे शिला तल पर आरूढ़ हो गये। केवलज्ञान प्राप्ति के स्थानादि के उल्लेख के साथ अपराह्न का उल्लेख है, किन्तु अपराह्न काल में भी कितना समय था इसे भी निर्देशित किया है।

उजुकूलणदी तीरे जंभिय गामे बहिं सिला वट्टे।
छट्ठेणादा वेंतो अवरण्हे पाय छायाए।।
वह साह जोण्ण पक्खे दसमीह खवगसेडिमा रूढो।
हंतूण घाइकम्मं केवल माणं समा वण्णो।।

जय धवला पुस्तक 1 पृष्ठ 72

अर्थात्- जृम्भिका ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के किनारे शिलापट्ट के ऊपर षष्टोपवास के साथ आतापन योग करते हुए महावीर भगवान ने अपराह्न काल में पाद प्रमाण छाया के रहते हुए वैशाख शुक्ल दशमी के दिन क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया और चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त होते ही महावीर स्वामी का शरीर पाँच हजार धनुष ऊपर उठ गया।

सौधर्म इन्द्र का आसन कंपित हो गया, उसने केवलज्ञान उत्पत्ति जानकर परोक्ष नमन किया। ज्ञानकल्याणक मनाया गया देव और मनुष्यों ने केवलज्ञानी भगवान महावीर की पूजा की और सौधर्म इन्द्र ने कुबेर को आदेश दिया कि विशाल सभा मण्डप समवशरण की रचना करो। इन्द्र की भावना थी कि संसार के समस्त दुःखी प्राणी सुख का मार्ग प्राप्त करें। इस उद्देश्य से ऋजुकूला नदी के किनारे अविलम्ब समवशरण की रचना की गई कुबेर हर्षित था, उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था। उपदेश ग्रहण करने का उत्साह लेकर समवशरण में देव, मनुष्य एवं तिर्यंच पहुँच रहे थे। विशाल जन समूह एकत्र हो रहा था। सौधर्म भी अपने पूरे परिकर के साथ पहुँच गया था। नियमानुसार सभी अपने अपने कक्ष/सभा में यथास्थान बैठ गये। केवलज्ञान वैसाख शुक्ल दशमी को हुआ था और आषाढ़ मास व्यतीत होने जा रहा था। किन्तु अभी तक महावीर स्वामी की देशना प्रारंभ नहीं हुई थी। सभी देवगण, विद्वत् जन एवं अन्य विचार शील व्यक्ति देशना अवरोध के संबंध में विचार कर रहे थे। ये मूक केवली नहीं हैं, इनकी देशना होगी लेकिन कब होगी, समय निकलता जाता है। कई लोग कह रहे थे अभी काल लब्धि नहीं आयी है। इन दिनों में कई लोग आये कई लोग लौट गये और कई

लोग देशना की प्रतीक्षा में उपस्थित रहे। श्रोताओं के मन में निराशा आने लगी, फिर भी देशना मिलेगी की हट श्रद्धा ढाढस बंधाये थी, देशना क्यों नहीं हो रही है, इसका समाधान किसी के पास नहीं था।

पैंसठ दिन तक समवशरण भी एक स्थान पर नहीं रह सका और तीर्थंकर महावीर का समवशरण राजगृह के निकट विपुलाचल पर आ गया। असंख्य श्रोता यहाँ उपस्थित थे, पर देशनावरोध पूर्ववत् था। कोई कहता था सौधर्म इन्द्र ने अभी तक गणधर उपस्थित क्यों नहीं किया। काललब्धि के बिना इन्द्र भी गणधर उपस्थित करने में असमर्थ था। गणधर को उनके पादमूल में दीक्षित होना चाहिए तभी दिव्यध्वनि खिरती है। अब सौधर्म इन्द्र को चिन्ता हुई, और अवधिज्ञान से ज्ञात किया कि सम्यक् और यथार्थ ज्ञानी गणधर के अभाव में दिव्य देशना रुकी हुई है। अन्तः इन्द्र ने गणधर को खोजना प्रारंभ किया।

मगध में सोमिल नाम का एक विद्वान ब्राह्मण रहता था। वह ब्राह्मण वर्ण का नेतृत्व करने वाला अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति था, उसने मध्यमापावा में एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उसमें पूर्वी भागों के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों को उनके शिष्य परिवार सहित आमंत्रित किया था। इस यज्ञ का नेतृत्व मगध के प्रसिद्ध विद्वान एवं प्रकाण्ड तर्क शास्त्री इन्द्रभूति गौतम के हाथ में था। इन्द्रभूति गौतम का जन्म मगध जनपद के गोब्बर ग्राम में हुआ था, इनकी माता का नाम पृथ्वी और पिता का नाम वसुभूति था। इनका गोत्र गौतम था। इन्द्रभूति की विद्वता की धाक दूर-दूर तक थी। इसलिये यज्ञ के नेतृत्व को इन्द्रभूति को चुना गया। यज्ञ मण्डप में स्थित विद्वानों ने आकाश मार्ग से जाते हुये देवों को देखकर विचार किया कि ये देव यज्ञ में सम्मिलित होने को आ रहे हैं। किन्तु जब वे आगे निकल गये, तो उन्हें लगा कि ये किसी के माया जाल में फँस गये हैं। इन्द्रभूति को जब पता चला कि ये सभी देव महावीर के समवशरण में जा रहे हैं, तो इन्द्रभूति का मन, अहंकार पर चोट लगने से उदास हो गया। उसी समय सौधर्म इन्द्र विद्यार्थी का रूप बनाकर इन्द्रभूति के समक्ष पहुँचा और कहने लगा।

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वयापच।
अट्ठयपवयणमादा सहेउओ बंध मोक्खो य।। 39।।

धवला पु. 9 पृ. 129

अर्थात्- पाँच अस्तिकाय, छहजीव निकाय, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचन मात्रा अर्थात् पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा सहेतुक बंध और मोक्ष आदि क्या हैं। जब वे इसे समझ न सके तब असमंजस में पढ़कर कहने लगे, चलो तुम्हारे गुरु के समक्ष ही इस गाथा का अर्थ बतलाऊँगा। इन्द्र यह सुनकर प्रसन्न हो गया।

इन्द्रभूति गौतम पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के समवशरण में गये। मानस्तम्भ को देखते ही मान गल गया, मानस्तम्भ प्रकाश स्तम्भ बन गया, मान रहित भावों की विशुद्धि सहित महावीर भगवान के दर्शन कर तीन प्रदक्षिणा लगा कर पंच मुष्टियों से अर्थात् पाँच अंगों से भूमि का स्पर्श कर वन्दना करके संयम को प्राप्त हुये। इन्द्रभूति गौतम ने 50 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की और गणधरों में प्रधान बन गये। गणधर की उपस्थिति होने से दिव्य देशना प्रारंभ हो गई। इन्द्रभूति गौतम की दीक्षा का समाचार मगध में विद्युत की तरह फैल गया। अग्निभूति आदि विद्वानों को महान आश्चर्य हुआ, वे इन्द्रभूति का समाचार जानने के लिये विपुलाचल पर पधारे। इन्द्रभूति के भाई अग्नि भूति और वायुभूति अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों के साथ मानस्तम्भ को देखकर मान गलित होने से अग्निभूति ने 46 वर्ष और वायुभूति ने 42 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहणकर ली और गणधर बन गये।

शुचिदत्त ने 50 वर्ष की आयु में पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ली और चौथे गणधर बने। आप कोल्लाग सन्निवेश के निवासी थे। माता का नाम बारूणी और पिता का धन मित्र था। सुधर्मा नाम के पाँचवें गणधर कोल्लाग सन्निवेश निवासी अग्नि वैश्यान गौत्र के ब्राह्मण थे इनकी माता भरिग्ला और पिता धम्मिल्ल थे। पाँच सौ शिष्यों के साथ 50 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। छठवें गणधर माण्डिक सांख्य दर्शन के समर्थक थे। ये मौर्य सन्निवेश के निवासी वशिष्ट गौत्री ब्राह्मण

थे। माता का नाम विजया देवी और पिता का नाम धनदेव था। तीन सौ पचास शिष्यों के साथ 50 वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की थी। सप्तम गणधर मौर्यपुत्र काश्यप गौत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था, पैसठ वर्ष की आयु में तीन सौ पचास शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की। अष्टम गणधर अकम्पिक मिथला के निवासी गौतम गौत्रीय ब्राह्मण थे। माता का नाम जयन्ति और पिता का नाम देव था। अड़तालीस वर्ष की आयु में तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की। नवम गणधर अचल कौशल निवासी हारीत गौत्रीय ब्राह्मण थे, आपकी माता नंदा और पिता वसु थे। आपने तीन सौ शिष्यों के साथ छियालीस वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। दशम गणधर मेदार्य वत्सदेश के निवासी कौण्डीय गौत्रीय ब्राह्मण थे। माता वरुणि और पिता दत्त थे, तीन सौ शिष्यों के साथ 36 वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। एकादश वें गणधर प्रभास राजगृह के निवासी थे। आपकी माता अति भद्रा और पिता बल थे, तीन सौ शिष्यों के साथ 46 वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी।

भगवान महावीर के सभी ग्यारह गणधर ब्राह्मण विद्वान थे। इनके दीक्षा लेने से जो यज्ञों में हिंसा होती थी, वह वन्द हो गई थी। इन्द्रभूति की दीक्षा के उपरान्त राजगृह के विपुलाचल पर प्रथम देशना का उद्भव श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को हुआ।

एत्थावसप्पिणीए चउत्थ कालस्य चरिम भागम्मि।
तेत्तीस वास अडमास पण्णरस दिवस सेसम्मि।।68।।
वासस्स पढ़म मसि सावण णामम्मि बहुल पडिवाय।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ति धम्म तित्थस्स।।69।।

तिलोयपण्णति भाग-1

अर्थात्- अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अंतिम भाग मे तैंतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम माह में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदय रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई। वीर शासन का प्रारम्भ हुआ। देव विद्याधर और मनुष्य तिर्यञ्चों के मन को प्रसन्न करने वाला वह विपुलाचल

प्रथमदेशना स्थल होने के कारण सभी से वन्दनीय है। विपुलाचल राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में है। पूर्व में चतुष्कोण ऋषि शैल दक्षिण में वैभार पर्वत है।

वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृति के हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में फैला हुआ धनुष के आकार का छिन्न नामक पर्वत है, और ईशान में पाण्डु पर्वत है। इस प्रकार पाँच पर्वत से युक्त होने के कारण यह राजगृह नगर पंचशैलपुर कहलाता है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में पंच पहाड़ियों के ऋृषिगिरि वैभारगिरि, विपुलाचल, चन्द्राचल और पाण्डुगिरि नाम उल्लिखित है। हरिवंश पुराण में पहला पर्वत ऋषिगिरि है। जो राजगृह की पूर्व दिशा में है। दक्षिण में वैभार गिरि त्रिकोण है। नैऋत्य में त्रिकोणाकार विपुलाचल है, इसी पर्वत पर समवशरण आया था इसी पर एकादश गणधरों ने दीक्षा ली थी। पश्चिम वायव्य और उत्तर को घेरे हुये चौथा वहालक, नामक पर्वत है, यह धुनषाकार है।

ईशान दिशा में पाँचवां पाण्डुक नामक गोलाकार पर्वत है। इन पर्वतों के वनों में वासुपूज्य स्वामी को छोड़कर शेष समस्त तीर्थकरों के समवशरण हुये। ने वन सिद्धक्षेत्र भी है और कर्म निर्जरा में कारण भी है।

वर्तमान पहला पर्वत विपुलाचल है दूसरा रत्नगिरि तीसरा उदयगिरि चौथा स्वर्णगिरि और पॉचवां वैभारगिरि है।

पुराणों में राजगृह के पंचशैल पुर, गिरिव्रज, कुशाग्रपुर, क्षिति प्रतिष्ट आदि नाम मिलते है, यहाँ मुनि सुब्रत नाथ के चार कल्याणक सम्पन्न हुये थे।

भगवान महावीर को ऋजुकूला तट पर केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और प्रथम समवशरण भी यहीं लगा, किन्तु गणधर के अभाव में (जो उनके पाद मूल में ही दीक्षित हो) दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। भगवान महावीर विहार करते हुये राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर पधारे। समवशरण की रचना हुई। सौधर्मइन्द्र गणधर को ले आये तब प्रथम देशना राजगृह के विपुलाचल पर हुई। सभी को ज्ञानामृत पान करने का सौभाग्य मिला।

— रजवांस जिला सागर म.प्र.

आगमिक तथ्यों के आलोक में

जलाभिषेक बनाम पंचामृत अभिषेक

– डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

तीर्थंकर भगवन्तों के पाँच कल्याणक मनाए जाते हैं। जन्मकल्याणक के समय इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाकर मायामयी बालक रखकर तीर्थंकर-बालक सौधर्म इन्द्र को उल्लास पूर्वक लाकर देती है। सौधर्म इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठा कर बालक को सुमेरू पर्वत पर ले जाता है। वहाँ पांडुक शिला पर विराजमान कर 1008 कलशों से सौधर्म ईशानइन्द्र और देवतागण क्षीरसागर के पावन जल से बालक का जन्माभिषेक करते हैं। तप कल्याणक के समय देवों द्वारा जल से महाभिषेक के बाद की सर्व क्रियाओं में अभिषेक होने/करने का कोई विधान नहीं है। समवशरण में भी अभिषेक नहीं किया जाता। मुनिराज अ-स्नान व्रतधारी होते हैं। निरतिचार 28 मूलगुण पालते हैं। ज्ञान-ध्यान तप में लीन रहते हैं।

श्रावक के आठ मूलगुण मुख्य हैं। अर्थात् मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों का त्याग होता है। इसके बिना श्रावक की भूमिका ही नहीं होती।

श्रावक के कुछ आवश्यक कर्तव्य भी हैं। रयणसार के अनुसार चार प्रकार का दान और देव शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य कर्तव्य है (गाथा 11)। कषाय पाहुड़ में दान, पूजा, शील और उपवास को श्रावक का कर्तव्य बताया है। (82/100/2)। आचार्य पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका में जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, और तप इन छह कार्यों को गृहस्थों के आवश्यक कार्य माने हैं, जिन पूजा का बहुत महत्व है। यह अष्ट द्रव्य से की जाती है। जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है (मू. आ. 506)। जिन बिम्ब के दर्शन से निधत्त और

निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कालुष्य का क्षय देखा जाता है। (धवला 6/1-9-9, 22/427/9) योगेन्दु देव के अनुसार तीर्थों में देवालयों में देव नहीं हैं, जिनदेव तो देह देवालय में विराजमान हैं (योगसार 42/1)।

जिनेन्द्र देव की पूजा के पूर्व प्रतिमाओं के प्रक्षाल एवं अभिषेक करने की परम्परा है। अभिषेक प्रासुक जल से प्रायः किया जाता है। कहीं कहीं परम्परानुसार जल, इक्षु रस, घी, दुग्ध और दही के द्वारा भी किया जाता है, इसे पंचामृत अभिषेक कहते हैं। प्रस्तुत आलेख में जलाभिषेक एवं पंचामृत अभिषेक की परम्परा और उसके औचित्य पर आगम के आलोक में, तथ्यों का प्रकाशन हैं जिससे कि विज्ञ-शोधार्थी मनीषि सम्यक निष्कर्ष ग्रहण कर सकें।

राष्ट्र संत पू. आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज का आलेख 'जिनार्चना के अंगः जलाभिषेक और अष्ट द्रव्य' सामने है। यह आलेख जैन बोधक, समन्वय वाणी (1-15 दिस., 06) एवं वीर, मई 07 में प्रकाशित हुआ है। आचार्य श्री ने इस आलेख में निम्न दो निष्कर्ष ग्रहण किये हैं।-

1. पंचामृत अभिषेक वैदिक संस्कृति में:

डॉ. वासुदेव उपाध्याय आदि इतिहास-संस्कृति के ज्ञाता विद्वानों के विचार में वैदिक परम्परा में देवताओं को पंचामृत स्नान (अर्थात् जल, इक्षुरस, घी, दही, दूध के मिश्रण से स्नान) कराने की प्रथा का आगमन संभवतः ई. छठी शती या इसके बाद हुआ ऐसा भी विद्वानों का विचार है। इस सम्बंध में अधिकाधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

2. जलाभिषेक की प्राचीनता

जिन पूजा मे मूर्ति का जलाभिषेक किए जाने की परम्परा अति प्राचीन मानी जाती है। अभी कुछ पुरातात्विक अवशेष भी मिले हैं, जो उक्त

तथ्य की पुष्टि करते है। ऋषभ पुत्र बाहुबली की प्राचीन राजधानी पोदनपुर (तक्षशिला) पेशावर (पाकिस्तान) मे हैं। वहां एक जिन मूति की प्रतिच्छवि में श्रावकों को जिन मूर्ति पर जलाभिषेक करते हुए देखा जा सकता है। श्रावकों ने बिना सिली हुई धोती पहिन रखी है और अग पर अन्य कोई वस्त्र नहीं है। यह मूर्नि दूसरी शती पूर्व की है और इसकी प्राचीनता के आधार पर भारत या बाहर देशों मे जिन पूजा के अंतर्गत किये जाने वाले जलाभिषेक की प्राचीनता सिद्ध की जा सकती है।

उक्त आलेख को जब से पढ़ा मन मे यह भावना रही कि पचामृत अभिषेक की आगमिक परम्परा की जानकारी प्राप्त की जाये। पुण्य योग से मुनि श्री भूतवली सागर जी द्वारा संकलित सम्यक् श्रामण्य भावना मिली। इस कृति के पृष्ठ 187-202 में श्रावकाचार संग्रह (तीन भाग) के आधार पर पंचामृत या जलाभिषेक का आगमिक विवरण एवं समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। अन्वेषण कर्त्ताओं को यह जानकारी उपयोगी सिद्ध होगी। अतः सहज भाव से सम्यक् निर्णय हेतु प्रस्तुत है। विद्वज्जन निष्पक्ष भाव से विचार करें।

1. ईसा की दूसरी शती मे आचार्य उमास्वामी के शिष्य आचार्य समन्तभद्र हुए। आप महाकवि एव महावादि थे। आपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की रचना की। आपने शिक्षाव्रत अधिकार मे वेयावृत्य के अतर्गत श्लोक 119 में जिनेन्द्र पूजन का उपदेश दिया। इसमें अभिषेक का वर्णन नहीं किया।

2. विक्रम की पांचवीं शती मे श्वेताम्बराचार्य विमलसूरी हुए। आपने प्राकृत भाषा में 'पदम-चरियं' ग्रन्थ की रचना की। इसके उद्देश्य 32 में आपने गाथा 178 से 182 में पचामृत अभिषेक द्वारा स्वर्ग में उत्तम देव और विमान प्राप्त करने की लौकिक भावना भायी ह।

3. ईसा की सातवीं शती में रविषेण (ई. 643-683) दिगम्बराचार्य हुए। आपने विमलसूरि के पउम-चरिय का संस्कृत रूपांतरण जैसा करते हुए पद्मपुराण की रचना की। दोनों की उद्देश्य-पर्व सख्या समान है।

रविषेणाचार्य ने पर्व 14 में वीतरागता की प्राप्ति हेतु श्रावक के बारह व्रतों का स्वरूप और अन्य आवश्यक कर्तव्यों को बताते हुए पूजन और अभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया। जबकि आपने सर्ग 32 में राम-लक्ष्मण के वन गमन कर जाने से शोक-संतृप्त भरत को संबोधित करते हुए आचार्य द्युति के माध्यम से गृहस्थ धर्म के रूप में सांसारिक अभिवृद्धि एवं स्वर्ग सुख की प्राप्ति हेतु श्लोक क्र. 165-169 में जिन पूजन और पंचामृत अभिषेक का विधान प्रासंगिक रूप से कराया है। ऐसा करते समय आचार्य रविषेण ने विमल सूरि का पूर्णतः अनुकरण किया है। दोनों के कथनों का मिलान करने पर यह स्थिति स्पष्ट होती है। जो निम्न उद्धरण से समझी जा सकती है!

पदम चरियं (उद्देश्य 32)

खारेण जोऽभिसेयं कुण्इ जिणिंदढस्य भविराण्ण।
सो खीर विमलधवले रमइ विमाणे सुचिरकाले।।179।।

पद्मपुराण (पर्व 32):

अभिषेक जिनेन्द्राणां विधाय क्षीर धारया।
विमाने क्षीर धवले जायते परम द्युतिः।।166।।

अर्थ- जो दूध धारा से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करता है वह दूध के समान धवल विमान में उत्तम कान्ति का धारक होता है। (पद्म पुराण-भा. दो. पृ. 97) इसी प्रकार दही से दही समान फर्श वाले स्वर्ग में उत्तम देव, घी से कांति-द्युति युक्त विमान का स्वामी देव आदि होने का प्रलोभन दर्शाया है। बिना गंगा-स्नान किये स्वर्ग-पथ बता दिया।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लौकिक-स्वर्ग सुख की कामना से पचामृत अभिषेक का प्रारम्भ प्रथमतः श्वेताम्बर परम्परा में हुआ। यह वैदिकी प्रभाव के साथ उनकी दार्शनिक मान्यता/अभिप्राय से मेल खाता प्रतीत होता है। साम्प्रदायिक सद्भाव के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बराचार्य रविषेण ने उसका अनुकरण किया। उनकी दृष्टि में इसका उद्देश्य वीतरागता की प्राप्ति न होकर स्वर्ग सुख की प्राप्ति था। इस प्रकार

भावनात्मक दृष्टि से पंचामृत अभिषेक करने का अभिप्राय दिगम्बर परम्परा के अनुरूप नहीं है।

रविषेण ने सर्ग 27 में जनक द्वारा म्मलेच्छों के पराजय हेतु राजा दशरथ के श्रावकों की धार्मिकता का वर्णन करते हुए, उन्हे पुराने धान आदि से पाच प्रकार के यज्ञ करने वाला दर्शाया है। यह विन्दु भी विचारणीय है (श्लोक 20)। दोनों ग्रन्थों की सूक्ष्म तुलना करने पर अन्य आगमिक विसंगतियां ज्ञात हो सकती हैं।

4. महापुराण पुराण परम्परा का मुकुटमणि रूप है। इसकी रचना महाकवि आचार्य जिनसेन महाराज (ई.800-843) ने नौवीं शती में की थी। दक्षिण भारत उस समय सांस्कृतिक संघर्ष के दौर में था। बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्मों के साथ अंतर-बाह्य संघर्ष चल रहा था। धर्म-विद्वेषी राजाओं के सर्वनाशी प्रहार हो जाते थे तो कभी राजाश्रय का अपरिमित लाभ भी मिल जाता था। फिर भी सास्कृतिक/दार्शनिक संघर्ष तो निरंतर बना ही रहा। ऐसे समय में महापुराण की रचना हुई। न्यायाचार्य पं. महेन्द्र कुमार जी के मतानुसार 'आ. जिनसेन ने भं. महावीर की उदारतम संस्कृति को न भूलते हुए ब्राह्मण-क्रिया काड के जैनीकरण का सामायिक प्रयास किया था।' महापुराण में जेन दर्शन, धर्म और संस्कृति के दार्शनिक एवं व्यावहारिक पक्ष सविस्तार दर्शाया है। गर्भान्वय की 53 क्रियाएँ, दीक्षान्वय की 48 क्रियाएँ (अवतार आदि आट क्रियाओं के साथ गर्भान्वय की 14 वीं उपनीति से अग्रनिवृत्ति तक की तिरपनवीं क्रिया तक 8 + 40 = 48) तथा कर्त्रान्वय की 7 क्रियाओं का भी वर्णन है। पूजा के भेद और स्वरूप को भी दर्शाया है। पर्व 13 में जिन बालक ऋषभदेव के जन्माभिषेक तथा पर्व 17 में निष्क्रमणाभिषेक का वर्णन है, जो क्षीरसागर के निर्मल जल से सम्पन्न हुआ था। किन्तु महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने चारों प्रकार की पूजाओं के पूर्व या पश्चात पंचामृत अभिषेक का वर्णन नहीं किया है। उक्त गर्भाधान क्रियाओं में भी पंचामृत अभिषेक की कोई मान्यता या निर्देश नहीं किया है। उपासकाचार सूत्रों का सदर्भ दिया है। यज्ञोपवीत

के पक्ष में आचार्य जिनसेन को प्रमाण स्वरूप मानने वाले विद्वान मनीषियों को महापुराण में पंचामृत अभिषेक की अविद्यमानता का निष्कर्ष भी उदारता पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। स्पष्ट है कि ईसा की 1-10 वीं शताब्दी तक जलाभिषेक की परम्परा रही होगी।

5. स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की धर्मानुप्रेक्षा में गाथा 373 से 376 तक प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप बताया है। आपने प्रोषध की समाप्ति पर सामायिक वन्दना, पूजन-विधान आदि कर तीन प्रकार के पात्रों को आहार दान देकर भोजन करने का उल्लेख किया है। अभिषेक आदि का कोई उल्लेख नहीं किया। स्वामी कार्तिकेय का समय ई. की दशमी शताब्दी है।

6. आचार्य श्री अमृतचन्द्र (ई. 962-1015) ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय आचार ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में जलाभिषेक या पंचामृत अभिषेक का कोई उल्लेख नही है। प्रभावना अंग में 'दानतपोजिनपूजा' (श्लोक नं. 30) वाक्य में केवल जिन पूजा का उल्लेख है। प्रोषधोपवास के दिन प्रासुक द्रव्य से जिन पूजा का विधान किया है (श्लोक 15)।

7. सोमदेव ने यशस्तिलकगत उपासकाध्ययन में पूजन और अभिषेक का विस्तृत वर्णन किया है। आपका समय ई. 943-968 है। आपने सिंहासन को सुमेरू पर्वत मान कर जलाभिषेक कराया, पश्चात दाख, खजूर, नारियल, आंवला, केला, आम तथा सुपारी के रसो से अभिषेक कराया है, तत्पश्चात घी, दूध, दही, इलायची और लौंग के चूर्ण से जिन बिम्ब की उपासना का विधान किया है। (श्लोक-503, 507 से 511)। जिनशासन में सोमदेव शिथिलाचारी साधू माने जाते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम वैदिक धर्म में प्रचलित पूजन-अभिषेक का अनुकरण किया है। यह वह समय था जब भट्टारकीय धार्मिक क्रियाकांड तंत्र-मंत्र एवं शिथिलाचार ऐहिक लाभ हेतु प्रारम्भ हो गया था।

8. चामुण्डराय (11वीं शती. पूर्वा.) ने चारित्रसार में श्रावकों के व्रतो एव छह आर्य कर्मों के वर्णन मे पूजन के महापुराणों की चारों प्रकारों की स्वरूप स्नपन अभिषेक करने का निर्देश मात्र किया है।

9. आचार्य अमितगति (ई. 993-1021) ने अपने श्रावकाचार में द्रव्य पूजा एवं भाव पूजा का स्वरूप और जिन पूजा का महात्म्य/फल का वर्णन किया है। जिन स्नान एवं जिनोत्सव करने वाले को लक्ष्मी मिलती है (श्लोक 40)। अभिषेक या पंचामृत अभिषेक का कोई निर्देश नहीं किया।

10. आचार्य वसुनंदि (ई. 1043-1053) ने अपने श्रावकाचार में प्रोपध प्रतिमा के वर्णन में द्रव्य और भाव पूजन (गाथा 207) तथा श्रावक के कर्तव्य बता कर पूजन का विस्तृत वर्णन किया। स्थापना पूजन में नवीन प्रतिमा का निर्माण एवं शास्त्रीय विधि से प्रतिष्ठा स्नपना करने का विधान किया है (गा. 424)। तीर्थंकरों के गर्भ-जन्मादि कल्याणकों की 'काल पूजन' के दिन इक्षुरस, घी, दही, गंध, और जल से भरे कलशों से जिनाभिषेक का वर्णन किया है (गा. 453-454)।

11. पंडित प्रवर आशाधर जी (ई. 1173-1243) ने सागार धर्मामृत के दूसरे अध्याय में पूजा के नित्यमह, सर्वतोभद्र, कल्पद्रुम और अष्टाह्निक भेद बताकर स्तवन आदि का उपदेश दिया। इस स्थल पर पंचामृत अभिषेक का कोई उल्लेख नहीं है (2ए 24-31) इससे ध्वनित होता है कि उस समय पंचामृत अभिषेक सार्वजनिक जिन मंदिर में प्रचलित नहीं था। प. आशाधर जी ने अध्याय 6 में मध्याह्न (दोपहर) की पूजा में 'प्रतिष्ठासारोद्धार' प्रतिष्ठा पाठ का श्लोक उद्धृत किया जिसमें अभिषेक की प्रतिज्ञा सहित पंचामृत अभिषेक की विधि और अष्ट द्रव्य से पूजन का विधान किया है (सा. ध. 6-22)। प्रचलित परम्परानुसार यह काल-पूजा का अंग है।

12. आचार्य सकलकीर्ति (ई. 1433-1473) ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के बीस वें अध्याय में पूजन का विस्तृत वर्णन करते हुए पंचामृत अभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया, जबकि वे स्वयं प्रतिष्ठाएं कराते थे। श्लोक 196 में यह घोषित किया कि जो उत्तम भाव से स्वच्छ जल से जिनदेव के अंग का प्रक्षालन करते हैं, उस धर्म से उनका महापाप मल क्षय हो जाता है।

13. आचार्य पद्मनन्दि-8 (1280-1330 ई.) ने श्रावकाचार सारोद्धार में जिन पूजन का विधान प्रोषधोपवास के दिन केवल आधे श्लोक में किया (श्लोक 313)। एक अन्य आचार्य पद्मनन्दि जी ने श्रावकाचार में जिनविम्ब, जिनालय बनवाकर नित्य ही स्तवन पूजन कर पुण्योपार्जन का विधान किया है (श्लोक 22-23)। ऐसा ही विधान उपासक संस्कार में पद्मनंदी नाम के आचार्य ने किया है (श्लोक 34-36)। किसी ने भी पंचामृत अभिषेक का उल्लेख नहीं किया।

14. पं. राजमल्ल जी ने लाटी संहिता के दूसरे सर्ग के 163-164 श्लोकों और पंचम सर्ग के 170-177 श्लोकों में पूजन का विधान किया है। दोनों स्थलों पर जल या पंचामृत अभिषेक का कोई उल्लेख नहीं किया।

15. माथुर संघ के आचार्य देवसेन (ई. 893-943) ने प्राकृत भाव संग्रह में देवपूजन का महत्व दर्शाकर जिनदेव के समक्ष धर्मध्यान करने और अपने को इन्द्र तथा जिन बिम्ब को साक्षात् जिनेन्द्र देव मानकर जल, घी, दूध और दही से भरे कलशों से स्तवन कर पूजन का विधान किया है (गा. 7-93)। इसी प्रकार पं. वामदेव ने संस्कृत भाव संग्रह में घर पर ही पंचामृत अभिषेक और पूजन का विधान किया है (श्लोक 28 से 58)।

16. सावय धम्म दोहा, श्री नेमिदत्त के धर्मोपदेश पीयूषवर्ती श्रावकाचार एवं भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन में जिनदेव ने घी, दूध आदि पंचामृत अभिषेक का विधान किया है।

17. गुणभूषणश्रावकाचार, व्रतसारश्रावकाचार, व्रतोद्योतन, श्रावकाचार, पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार, रयणसार, तत्त्वार्थ सूत्र, चारित्र पाहुड़ आदि में जलाभिषेक या पंचामृत अभिषेक का कोई विधान नहीं है।

18. संहिता सूरी पं. नाथूलाल जी ने 'बीस पंथ और तेरह पंथ चर्चा' (समन्वय वाणी-अगस्त 02 II) में उल्लेख किया है कि नये सवस्त्र

भट्टारकों ने अपने शिथिलाचार को पुष्ट करने कुन्द-कुन्द श्रावकाचार उमास्वामी श्रावकाचार पूज्यपाद श्रावकाचार, अकलंक बिंब प्रतिष्ठा पाठ आदि उन्हीं आचार्यों के नाम से रचवा कर मंदिरों के शास्त्र भंडारों में विराजमान करा दी। और उनके नाम से क्रियाकांड संचालित करते रहे। इनका खुलाशा पं. श्री जुगल किशोर जी मुख्तार, आचार्य श्री सूर्य सागर जी, पं. श्री पन्नालाल जी दूंनी वाले, पं. श्री मिलाप चन्द जी कटारिया तथा पं. श्री राजकुमार जी शास्त्री ने अपनी कृतियों में किया है, जो पठनीय हैं। दूसरे, पंचामृत अभिषेक का सम्बन्ध यक्ष-यक्षणी की पूजा-पद्धति से भी जुड़ा प्रतीत होता है। इन तथ्यों का अन्वेषण करना अपेक्षित है।

जलाभिषेक या पंचामृत अभिषेक पूजा की पद्धति है। इसका सम्बन्ध सम्यग-मिथ्या की धारणा की अपेक्षा अहिंसक पूजा पद्धति के विवेकपूर्ण औचित्य और दार्शनिक संगतता से जुड़ा है। यह भी विचारणीय है कि अहिंसा की साधना हेतु अ-स्नान व्रत धारी मुनिराज जब परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, तब उनकी मूर्ति के अभिषेक का क्या औचित्य है और फिर जब गृहस्थावस्था में जिस द्रव्य या द्रव्यों (रसों) से हम स्नान नहीं कर सकते, उन रसों से जिनेन्द्र देव का अभिषेक करना कितना युक्ति संगत कहा जा सकता है। बिना किसी की भावनाओं को आहत किये यह भी विचारणीय है कि पवित्र-मर्यादित दूध-घी-दही मिलना सर्वत्र सुलभ नहीं है, अभिषेक के जल/दूध में असंख्य जीव राशि उत्पन्न हो जाती है, मूर्तियों के रंध्रों में दूध-दही से चींटी आदि की त्रस हिंसा होती है, गंधोदक जल की विराधना, अहिंसा के और भी दार्शनिक पहलू है, जो मन को कुरेदते हैं उक्त तथ्य आगे अन्वेषण का आधार बन सकते हैं।

निष्कर्ष:

1. दार्शनिक और औचित्य की दृष्टि से जिन शासन में मूलतः जलाभिषेक की परम्परा ही रही है। पंचकल्याणक के समय नवीन

मूर्ति पर सर्वौषधि, चंदन लेप कर 'कालपूजा' में उसकी शुद्धि करते हैं। पश्चात् जलाभिषेक ही होता है। आगमिक संदर्भ सावधानी पूर्वक समझें।

2. पंचामृत अभिषेक श्वेताम्बर परम्परा एवं वैदिक परम्परा से प्रभावित और पल्लवित है। यद्यपि इस परम्परा का वीजारोपण सातवीं शती में आचार्य रविषेण ने किया किन्तु दसवीं शती में आचार्य सोमदेव ने पल्लवित किया। मूल संघ से भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने हेतु माथुर संघ, काष्ठासंघ ने शिथिलाचार को आगे बढ़ाया यापनीय संघ एवं भट्टारक परम्परा ने इसे पुष्ट किया। इस दृष्टि से डॉ. वासुदेव उपाध्याय जैसे निष्पक्ष इतिहास मनीषियों के निष्कर्ष यथार्थता के निकट हैं। समग्रता में आगम एवं इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे विचारणीय है।

3. पूज्य आचार्य विद्यानंद जी जैसे प्रतिभा सम्पन्न तार्किक अध्ययन शील महामना के आगम, पुरातत्व एवं अनुभव आधारित सम्यक निष्कर्ष अनुकरणीय/मननीय हैं।

4. बदलते परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक मान्यता से साम्य रखने वाली परम्पराओं की पुनः स्थापना श्रमण परम्परा के अनुरूप होगी और अभिषेकों के नाम पर धनार्जन रुकेगा।

5. जो साहित्य जैन दर्शन मान्यता के विपरीत भ्रम उत्पन्न करने वाला हे, उसे गौण किया जाना चाहिये जिससे सामाजिक सद्भाव में वृद्धि हो।

उक्त विवरण परोक्ष रूप से द्वितीयक सामग्री से उद्भूत है उसमें कहीं अन्यथा विवरण या चूक हुई हो तो उदार-विद्वानों के द्वारा संकेत किये जाने पर सहर्ष शुद्धिकरण हेतु तत्पर हैं।

—बी 369 ओ.पी. एम. अमलाई
जिला—शहडोल म.प्र.